प्राकृत भाषा का वैशिष्ट्य

– डॉ. आशीष जैन आचार्य शाहगढ़, सागर
(राष्ट्रपति सम्मानित)
महामंत्री, प्राकृत भाषा विकास फाउण्डेशन

प्रस्तावना –

भाषा भावों को उद्घाटित करना सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। भाषा में बोली, ध्वनि, संकेत आदि का माध्यम सहज है। सभी भाषाओं का अपना रस और आनंद है। भाषाओं की मधुरता उनमें प्रयोग किए जाने शब्द हैं, जिनसे मधुरता भी आती है और कर्कशता भी आती है। शब्दों के अर्थ अनेक बार क्षेत्रीय बोलियों के अनुरूप भी परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे में, हमें आवश्यक होता है कि हम शब्दों की समीचीन व्युत्पत्ति, उनके अर्थ और प्रयोग का जाने।

भारत भाषाओं का समृद्ध देश है। जहाँ भाषाओं की विविधता शब्दों के मधुर अर्थों और ध्वनियों को देनी वाली है। जिस प्रकार से प्रत्येक कार्य का एक मुख होता है, प्रत्येक ध्वनि का मुख होता है, प्रत्येक जीवन का मुख होता है, प्रत्येक मार्ग का प्रवेशद्वार होता है वैसे ही भाषाओं का कोई न कोई मुखद्वार जरूर होना चाहिए। मुखद्वार वही है जो सहज हो, जो स्वयमेव निःसृत हो, जिसके लिए सीखना न पड़े स्वयमेव ही सीखकर बोलना, समझना प्रारंभ कर दें।

जैन दर्शन कहता है कि तीर्थंकर भगवान की वाणी ध्वनि रूप होती है। जिसमें समाहित बीजपद से ज्ञान का विस्तार होता है। यह विषय स्पष्ट है कि ध्वनि से ही भाषाओं का और बोलियों का सृजन हुआ है। हम पशुओं में देखते हैं, उनके पास सिर्फ ध्वनि है, बोली और भाषा नहीं है। वे जानते हैं और समझते हैं। जंगलों में जाने वाले लोग भाषा या बोली का प्रयोग नहीं करते हैं विभिन्न ध्वनियों का प्रयोग करते हैं। प्रत्येक कार्य के लिए ध्वनियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं।

इन्हीं ध्वनियों से सहज रूप से बोली निकली है। इन्हीं बोलियों में प्राकृत नाम की एक बोली है। जो अपने विस्तृत स्वरूप में है। प्राकृत ने बोली से आगे बढ़कर भाषा का रूप लिया है। प्राकृत ने बड़ी सहजता रखी। विभिन्न प्रान्तों और क्षेत्रों की ध्वनियों को सम्मिलित करते हुए शौरसेनी, अर्धमागधी, मागधी, पैशाची आदि में विस्तार किया। इन सभी में साहित्य की खूब सृजना हुई है। प्राकृत भाषा भारत की नसों में वह रही है। अवहट्ट, अपभ्रंश, हिन्दी, मराठी, बंगला, पंजाबी, असमिया, उड़िया आदि में प्राकृत भाषा का

अविरल स्वरूप परिलक्षित है। मान्यताएं कुछ भी हो, परंतु सत्यता इस बात की द्योतक है कि प्राकृत भाषा ने बोलियों को समृद्ध किया है और जनमानस में शब्दों का असीमित भण्डार प्रदान किया है। कई लाख शब्द प्राकृत भाषा में है, जो अन्य किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं है। यह प्राकृत भाषा राष्ट्र का गौरव है। इसी गौरव को भारत सरकार ने हाल ही में शास्त्रीय भाषा का दर्जा प्रदान करके अधिक गौरवशाली बना दिया है।

संस्कृत भाषा को छोड़ दें, तो सभी भाषाओं में एकवचन और बहुवचन दो ही वचनों की अवधारणा निहित है। हिन्दी, बंगला, मराठी आदि में प्राकृत भाषा की तरह दो ही वचन हैं। इससे सहज स्पष्ट होता है कि कहीं न कहीं इन भाषाओं का सीधा संबंध प्राकृत से हैं।

जो जो बोला गया है, उसके शब्दों को जोड़ा गया है, उसके प्रयोगों को बनाया गया है। अर्थात् बोली से भाषा तक का सफर किया है न कि भाषा से बोली का सफर। क्योंकि बोली सहज होती है बंधी हुई नहीं होती है। समझ विकसित होती है। जिस भाषा को पहले तैयार किया जाता है फिर बोली का रूप मिलता है ऐसी स्थिति में शब्दों का भण्डार निश्चित होने से उनका सहज प्रयोग नहीं हो पाता है।

भारत की प्रान्तों की भाषा और बोलियों का स्वरूप यदि देखा जाए तो जितने भी देशज शब्द हैं, उनमें प्राकृत की ही पुट सम्मिलित हैं। इसलिए प्राकृत को अत्यंत सहज और सरल कहा गया है। प्राकृत भाषा के वैशिष्ट्य को समझने के लिए यहाँ हम परिचर्चा करते हैं।

प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ – प्राकृत शब्द प्रकृति से बना है। प्रकृति की व्युत्पत्ति है – प्र+कृ+क्तिन् अर्थात् प्र उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय होने से प्रकृति बना है। प्रकृतेः आगतम् इस व्युत्पत्ति के आधार पर प्राकृत बना है। जिसका अर्थ प्रकृति से उत्पन्न, नैसर्गिक, स्वभाव। प्रक्रियते यया सः प्रकृतिः अर्थात् जिससे दूसरे पदार्थों की उत्पत्ति हो।

प्राकृत भाषा की उत्पत्ति और विकास – प्राकृत भाषा की उत्पत्ति जनसामन्य के बोलचाल से ही हुई है। जनसामान्य में जो बोला, कालान्तर में उसे भाषा के रूप में ग्रहण कर लिया गया और वही प्राकृत है। प्राकृत भाषा के रूप में विकसित हुई, न कि भाषा से बोली बनी है। बोली से भाषा बनी है।

भारतीय संस्कृति में वेदों का बहुत महत्व है। वेदों की प्रामणिकता एवं काल के संदर्भ में अनेक विद्वानों के अभिमतों में ऊहापोह है। फिर भी, वेदों की रचना कब हुई? किसने की? क्यों की? यह प्रसंग नहीं है। यहाँ प्रसंग भाषा का है। इसलिए उसके ही संदर्भ में कह रहे हैं। वेदों की भाषा छान्दस् है। छान्दस् न तो संस्कृत है और न ही प्राकृत है। वेदों में प्रयुक्त शब्द इस बात के द्योतक है कि जनसामान्य की भाषा का वहाँ भी ध्यान रखा गया है। प्राकृत भाषा के लिए छान्दस् और छान्दस् के लिए प्राकृत एवं दोनों के लिए

भाषा विकास का सीधा संबंध है। इसलिए प्राकृत की उत्पत्ति का कोई मूल नहीं है। फिर भी इसकी उत्पत्ति के संदर्भ में अनेक मत हैं, जिन्हें यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं –

प्राकृत को बहता नीर और संस्कृत को बद्ध महासरोवर कहा है। प्राकृत और संस्कृत दोनों में छान्दस् के तत्त्व विद्यमान है। छान्दस् स्रोत से प्रवाहित होने पर एक वृद्धा कुमारी बनी रही और दूसरी कुमारी युवती। तात्पर्य यह है कि संस्कृत पुरानी होती हुई भी सदा मौलिक रूप धारण करती है, इसके विपरीत प्राकृत चिर युवती है, जिसकी संतानें निरंतर विकसित होती जा रही है। संस्कृत को कूपजल और प्राकृत को बहता नीर कहा गया है।

संस्कृत से प्राकृत भाषा की उत्पत्ति हुई हैं इसके पक्ष में मत – आचार्य हेमचन्द्र, मार्कण्डेय, धनिक सिंहदेव गणी आदि प्राकृत की प्रकृति संस्कृत को मानते हैं। जिनके संदर्भ निम्न हैं –

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। संस्कृतान्तरं प्राकृतमधिक्रियते। संस्कृतानन्तरं च प्राकृतस्यानुशासनं। सिद्धसाध्यमानभेदसंस्कृतयोरेव तस्य लक्षणं न देश्यस्य इति ज्ञापनार्थम्। [1]

अर्थात् प्रकृति संस्कृत है, इस संस्कृत से आयी हुई भाषा प्राकृत है। संस्कृत के पश्चात् प्राकृत का अधिकार आरंभ होता है। प्राकृत में जो शब्द संस्कृत के मिश्रित है, उनको संस्कृत के समान ही अवगत करना चाहिये। तद्भव शब्द दो प्रकार के है – साध्यमान संस्कृतभव और सिद्ध संस्कृतभव। अनुशासन इन दोनों प्रकार के शब्दों का ही प्रतिपादित है। देश्य शब्दों का नहीं।

पुनश्च –

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते।[2]

प्रकृति संस्कृत है। उससे जो उत्पन्न है वह प्राकृत है।

आगे कहते हैं –

प्रकृतेः आगतं प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम्।[3]

प्रकृति से आई हुई प्राकृत है और प्रकृति संस्कृत है।

प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः।[4]

प्राकृत की योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान संस्कृत है।

प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता।[5]

प्रकृति से संस्कृत और संस्कृत की विकृति से प्राकृत की उत्पत्ति हुई है।

प्रकृतेः संस्कृताद् आगतं प्राकृतम्।[6]

प्रकृति से संस्कृत और संस्कृत से प्राकृत आई है।

४) प्राकृत शब्द प्रदीपका के रचयिता – नरसिंह

५) गीतगोविंद की रसिक सर्वस्व टीका के लेखक – नारायण

प्रक्रियते यया सः प्रकृतिः अर्थात् जिससे दूसरे पदार्थों की उत्पत्ति हो मूलतत्त्व, व्युत्पत्ति के आधार पर प्राकृत के लिये संस्कृत को ही मूल उत्पादक कहा है।[7]

प्राकृत भाषा की उत्पत्ति स्वतंत्र है और संस्कृत की उत्पत्ति भी प्राकृत भाषा से हुई है – के पक्ष में मत –

प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।

षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः।।काव्यालंकार२/१२

प्राकृतेति सकलजगज्जंतूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचन व्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। आरिसवयवो सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी इत्यादिवचनात् वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राकृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषनिबंधभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत् संस्कृताघुत्तरविभेदानाप्नोति। अत एव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्ट तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्य करणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते। ४

रुद्रटकृत काव्यालंकार के श्लोक की व्याख्या करते हुये ग्यारवीं शताब्दी के नमिसाधु ने कहा है – प्रकृत शब्द का अर्थ है लोगों का व्याकरण आदि के संस्कारों से रहित स्वाभाविक वचन व्यापार, उससे उत्पन्न अथवा वही प्राकृत है। प्राक् कृत पद से प्राकृत शब्द बना है और प्राक् कृत का अर्थ है – पहले किया गया। द्वादशांग ग्रन्थों में ग्यारह अंग ग्रन्थ पहले किए गए हैं और इन ग्यारह अंग ग्रन्थों की भाषा आर्ष वचन में – सूत्र में अर्धमागधी कही गयी है, जो बालक, महिला आदि को सुबोध–सहज गम्य है और जो सकल भाषाओं का मूल है यह अर्धमागधी भाषा ही प्राकृत है। यही प्राकृत मेघयुक्त जल की तरह पहले एक रूपवाली होने पर भी देशभेद से और संस्कार करने से भिन्नता को प्राप्त करती हुई संस्कत आदि अवान्तर विभेदों में परिणत हुई हैं अर्थात् अर्धमागधी प्राकृत से संस्कृत और अन्यान्य प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इसी कारण से मूल ग्रन्थकार रुद्रट ने प्राकृत को पहले और संस्कृत आदि का बाद में निर्देश किया है। पा

णिन्यादि व्याकरणों में बताए हुए नियमों के अनुसार संस्कार पाने के कारण संस्कृत कहलाती है।[9] इसी कारण मूलग्रन्थकार ने पहले प्राकृत को रखा पश्चात् संस्कृतादि को।

आगे कहते हैं –

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं।।[10]

जिस प्रकार जल समुद्र में प्रवेश करता है और समुद्र से ही वाष्प रूप में बाहर निकलता है, इसी तरह प्राकृत भाषा में सब भाषायें प्रवेश करती है और इस प्राकृत भाषा से ही सब भाषायें निकलती है। तात्पर्य यह है कि प्राकृत भाषा की उत्पत्ति अन्य किसी भाषा से नहीं हुई है किन्तु संस्कृत आदि सभी भाषायें प्राकृत से ही है।

आगे कहते हैं –

याद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदशां जिह्वासु यन्मोदते।[11]

प्राकृत को संस्कृत की योनि–विकास स्थान कहा है।

डॉ. पिशल ने भी मूल प्राकृत को जनता की भाषा कहा है। इसकी जड़े जनता की बोलियों के भीतर है।[12]

स्व अभिमत – दोनों प्रकार के प्रमाण उपलब्ध हैं। प्राकृत से संस्कृत और संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति हुई है। यदि हम यहाँ विचार करें कि जिस प्रकार से अनेक विद्वानों से यह कहा है कि प्रकृति संस्कृत है। यह बात किसी भी दृष्टिकोण से अनुकूल नहीं समझ पड़ रही है। पहली बात तो यह है कि प्रकृति की व्युत्पत्ति और अर्थ मूल भाव, समायोजन, शब्दसाम्यता आदि कहीं भी संस्कृत से मेल नहीं खाती है। दूसरी बात यह है कि संस्कृति प्रकृति से कैसे हो सकती है ? क्योंकि संस्कृत बद्ध है। उसे नियमों–सूत्रों में इतनी तारतम्यता के साथ बांधा गया है जैसे किसी माला की डोर टूटने पर उसके सारे मोती विखर जायेंगे, वैसे ही संस्कृत में भी है। तीसरी बात है कि संस्कृत भाषा में सहजता और सरलता नहीं है, जो कि एक बोली के लिए आवश्यक है। बद्ध होने के कारण सम्पूर्ण नियमावली का ध्यान में रखकर ही वाक्यों का निर्माण होता है और वाक्य विन्यास में किसी भी प्रकार की अशुद्धि होने पर अर्थ में परिवर्तन की संभावना अधिक प्रकट होती है। ऐसी अवस्था में, भाषा को बोली के रूप में होने से सहजता और सरलता में कठिनाई प्रतीत होता है। जैसे एक उदाहरण से समझते हैं – प्राकृत भाषा में निबद्ध प्रवचनसार ग्रन्थ में एक उक्ति है – सहावेण मायायारेण इत्थीणं। इसका संस्कृत अनुवाद है – स्वभावेन मायाचारेण स्त्रीणाम्। अर्थात् दोनों का अर्थ है कि स्त्रियों में मायाचारी स्वभाव से होती है। संस्कृत का तो एक ही अर्थ यहाँ प्रकट रूप में है क्योंकि माया का अर्थ

मायाचारी और छलकपट ही है। ऐसे में, भरी सभा में ऐसा कहने से स्त्रियों के प्रति उपेक्षा का भाव होगा। प्राकृत भाषा का विद्वान् कहेगा – स्त्रियों में माता का आचारण भी स्वभाव से होता है क्योंकि माया शब्द का अर्थ में प्राकृत में माता भी है। इसलिए यहाँ बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि प्रकृति प्राकृत का जुड़ाव स्पष्ट है।

इस प्रकार अनेक प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं है। छान्दस् का विकास जिस प्रथम स्तर की प्रादेशिक भाषा से होता है उसी से प्राकृत भी विकसित है। इसका विकास ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा से मानना तर्कसंगत है।

प्राकृत भाषा का विकास – प्राकृत भाषा की प्रकृति सामान्यतया परिवर्तनशील रही है। वातावरण के प्रभाव से प्राकृत की ध्वनियों में परिवर्तन होता रहा है। किसी भी भाषा के विकास के लिए आवश्यक होता है कि उस भाषा में प्राप्त शिालेख, सिक्के, प्रशस्तियाँ, ग्रन्थ आदि की समृद्धता हो, जो कि प्राकृत भाषा में भरपूर मात्रा में उपलब्ध है।

प्राकृत भाषा के विकास में आ रही समस्याएं और निदान –

भाषा की तीन अवस्थाएँ होती है –

1. प्राचीन भाषाएँ जिनका अध्ययन और वर्गीकरण पर्याप्त सामग्री के अभाव में नहीं हो सका हो।
2. जिनका सम्यक् शोध और विभाजन के आधार प्रचुर सामग्री होते हुए भी न हो सका हो।
3. जिनकी प्रचुर सामग्री है और जिनका वर्गीकरण और अध्ययन हो चुका हो और चल रहा हो।

इन तीन अवस्थाओं में समझने पर ज्ञात होता है दूसरी अवस्था में प्राकृत भाषा को सम्मिलित किया जाता है क्योंकि प्राकृत भाषा में प्रचुर मात्रा में शिलालेख, पाण्डुलिपियाँ, मूर्ति लेख, सिक्के, ग्रन्थ आदि उपलब्ध हैं लेकिन सम्यक् शोध और विभाजन की कमी आज भी जिसके कारण आज भी प्राकृत भाषा का विकास रूका हुआ है।

प्राकृत भाषा के विकास के लिए निम्न बिन्दुओं के आधार समझा जा सकता है –

- **बोली के आधार पर विकास –** तीसरी शताब्दी के नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने प्राकृत के सात भेद किए हैं – मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या। इन भेदों से यह तो स्पष्ट हो रहा है कि भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर जनसामान्य ने बोला है वही बोली के रूप में उभरकर आयी है। जो भाषा प्रकृति है स्वभावसिद्ध है और जनसामान्य द्वारा व्यवहार में प्रयोग की जाती हो वह

प्राकृत है। महर्षि पाणिनि ने प्राकृत भाषा को जनसामान्य की भाषा कहा है, इसी जनसामान्य की बोली से भाषा परिवर्धित हुई है। वैदिक वाङ्मय की छान्दस् से संस्कृत की उत्पत्ति का स्वीकार की है।

- **भाषा विज्ञान के आधार पर विकास –** प्राकृत भाषा के विकास को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें प्राकृत परिवारों और उनके काल विभाजन को समझना आवश्यक है, जिससे हम प्राकृत के क्रमिक विकास को समझ सकेंगे। सम्पूर्ण विश्व में लगभग 6000 भाषाएं हैं और प्रायः वे बोली भी जाती हैं। भारत में लगभग 455 भाषाएं हैं, यह आँकड़ा 2001 की जनगणना के अनुसार है। इसमें सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा हिन्दी है, जिसका 61% लोगों द्वारा बोली जाती है। प्रायः इन 455 भाषाओं की उत्पत्ति में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्राकृत भाषा का योगदान है।

आपस में संबंधित भाषाओं का **भाषा परिवार** कहते हैं। भाषाओं का वर्गीकरण का आधार वैज्ञानिक है। विश्व की समस्त भाषाओं का परिवार है। उन्नीसवीं शती में ही विद्वानों का ध्यान संसार की भाषाओं के वर्गीकरण की ओर आकृष्ट हुआ और आज तक समय-समय पर अनेक विद्वानों ने अपने अलग-अलग वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं; किन्तु अभी तक कोई वैज्ञानिक और प्रामाणिक वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं हो सका है। इस समस्या को लेकर भाषाविदों में बड़ा मतभेद है। यही कारण है कि जहाँ एक ओर फेडरिख मूलर इन परिवारों की संख्या 100 तक मानते हैं वहाँ दूसरी ओर राइस विश्व की समस्त भाषाओं को केवल एक ही परिवार में रखते हैं। किन्तु अधिकांश विद्वान् इनकी संख्या बारह या तेरह मानते हैं। विश्व की भाषाओं के 12 परिवारों की चर्चा यहाँ करते हैं –

१. भारोपरीय परिवार

२. सेमेटिक परिवार

3. हैमेटिक परिवार

४. चीनी/एकाक्षरी परिवार

५. यूराल-अल्टाई परिवार

६. द्राविड परिवार

७. नैपोपालीनेशियन परिवार

८. बंटू परिवार

९. मध्यअफ्रीका परिवार

१०. आस्ट्रेलियाप्रान्तीय परिवार

११. अमेरिका परिवार

१२. शेष परिवार

इन बारह परिवारों में प्राकृत भाषा का संबंध भारोपीय परिवार से है। भारोपीय परिवार की भाषाओं के आठ वर्ग हैं। इन आठ वर्गों को हम दो समूहों में विभक्त करते हैं – केंटुम (Centum) शतम् वर्ग। इसके आधार पर केंटुम में अनेक शब्द क (C) से आते हैं और शतम् में उन्हीं शब्दों के क के स्थान पर श/स का प्रयोग होता है। जैसे – लैटिन भाषा में सौ के लिए centum और प्राकृत में सदं और संस्कृत में शतम् आता है।

वर्तमान में C के लिए स बोले जाने लगा है, cent अंग्रेजी में सेंट और फ्रेंच में सॉ बोले जाने लगा है। शतम्

केंटुम

दस(प्राकृत) डेका(ग्रीक)

भारोपीय परिवार के वर्ग और आठ प्रमुख शाखाएं निम्न हैं –

केंटुम – 1. आरमेनियन

2. बाल्टैस्लैबोनिक

3. अलवेनियम

4. ग्रीक

शतम् – 1. भारत, ईरानी या आर्य परिवार

2. इटैलिक

3. कैल्टिक

4. जर्मन या ट्यूटानिक

- **भारत, ईरानी या आर्य परिवार** – यह नाम से ही स्पष्ट है कि इस परिवार में ईरान और भारतीय प्रायद्वीप से व्यवहृत भाषाएँ इमसें सम्मिलित हैं। इसे आर्य भाषा परिवार भी कहते हैं। भारत की आर्य भाषाएँ और ईरान की क्षेत्र की प्रमुख भाषा फारसी है। ईरान के लोग भी आर्य थे। ऐसा प्रतीत होता है कि 'ईरान का' इस शब्द

का संस्कृत अनुवाद 'आर्याणाम्' बदला हुआ रूप लगता है। "ईरान का" इस शब्द प्राकृत में "आरियाणं" बनता है। बाद में प्राचीन ईरानी भाषा "अवेस्ता" का में आर्य का रूप "ऐर्य" था। यह संबंध काल्पनिक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि प्राचीन युग में भारत और ईरान में धर्म का एक ही स्वरूप था, दोनों की भाषा में (अवेस्ता, प्राकृत और संस्कृत) बहुत समानता थी। भारत और ईरान के आर्य एक ही मूल के थे।

- **ईरान और प्राकृत भाषा का संबंध –**
- **प्रथम दृष्टि –** ईरान भी आर्यों का देश था। भारत और ईरान दोनों आर्यों के देश थे। प्राकृत में आर्य को आरिय या अज्ज कहा जाता है। आर्य देश में रहने वाले आरियणी (प्राकृत में) कहलाते हैं। यह संभव है कि आरियणी से अपभ्रंश होता हुआ ईरानी बन गया हो। ईरान शब्द का उत्पत्ति "एर्यान" से हुई है जिसका अर्थ है आर्यों की भूमि। यही एर्यान प्राकृत के आरियाण का विकृत रूप प्रतीत होता है जो अपभ्रंश रूप में ईरान बन गया।
- **द्वितीय दृष्टि –** ईरान का नामकरण "ईरान" सन् 1934 में पहलवी राजा ने किया। पहले इस देश का नाम पारस था। पारस के निवासी पारसी कहलाते थे। पारस प्राकृत भाषा का मूल शब्द है जिससे संबंधित प्राकृत के शब्द और उनके अर्थ निम्न हैं –

  पारस – अनार्य, पारस देश का , ईरान। पारस देश में रहने वाले मुनष्य जाति।

  पारसिय – फारस देश का।

  पारसी – पारस देश की स्त्री। फारसी लिपि।

  पारसीअ– फारस–निवासी।

- **तृतीय दृष्टि –** पारस (ईरान) की अवेस्ता भाषा रही है। जरथुस्त्र धर्म (पारस इरान) का जेंद अवेस्ता ही भारत का वेद है, ऐसे ही अवेस्ता का अर्थ वेद होता है और वेद का अर्थ अवेस्ता होता है। अवेस्ता में लिखा हुआ विषय निम्न हैं –
- **अवेस्ता में –**

हावनीम् आ रतुम आ

हओमो उपाइत् जरथुश्त्रेम्,

आत्रेंम् **पइरियओज्द,** थेन्तेंम्,

गाथाओं स्–च स्रावयन्तेम्

आ दिम् पेरेसत् जरश्थुत्रो, को नरे अही ?

- **प्राकृत में –**

सावणीअ आ रिदु आ

सोमो उपागादो जरठोट्ठं,

अथरं पइरियसो दधदं,

गाथाओ सावयंतं

आ तं पुच्छदो जरठोट्ठं, को णरो आसि ?

यहाँ देखा जाए तो अवेस्ता की साम्यता प्राकृत बहुत नजदीक की है। चॉद का प्रयोग प्राकृत भाषा में मिलता है। पंचमी विभक्ति में ओ प्रत्यय लगाकर गाथाओ शब्द का प्रयोग है। आदि अनेक विशेषताओं के साथ साम्यता मिलती है।

अतः ऊपर कहीं गई आठों उपपरिवारों में भी प्राकृत भाषा का संबंध उपपरिवार भारत ईरानी अथवा आर्य उपपरिवार से है। इस भारत ईरानी उपपरिवार में भी तीन शाखा परिवार हैं –

- **ईरानी शाखा परिवार –** ईरानी उपशाखा में प्रमुख रूप से फ़ारसी भाषा आती है। ईरान और प्राकृत का संबंध इस टॉपिक में ईरानी आदि की व्युत्पत्ति पर चर्चा कर चुके हैं। यहाँ उससे आगे की चर्चा करते हैं। कालान्तर में पारस फारस बना और फारस से फारसी हो गया, जो कि आज ईरान की भाषा फारसी है।
- फ़ारसी: फ़ारसी के तीन प्रमुख काल हैं –
  1. प्राचीन कालः – यह युग ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ई. पू. तीसरी शताब्दी तक का
- है। इस युग में दो प्रकार की भाषाएँ थीं।
- **प्राचीन फ़ारसीः** – इसे संस्कृत के समान कहा गया है। यदि हम ठीक से अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषा से अधिक नजदीक रही है प्राचीन फारसी। यहाँ हम कुछ उदाहरणों से समझते हैं –
- **प्राचीन फ़ारसी–** पसाव कम्बुजिय मद्रुण्यम् अशियव। यथा कम्बुजिय मुद्रायम् अशियव पसावकार अरिक अबव। पसाव द्रउग दह्यउवा वसइए अबव उता पार्सइय् उता मादइय् उता अनियाउवा दह्यशुवा।

- **संस्कृत** – पश्चात् अवत् (एतत्) कम्बुजो मित्र अच्यवत्। यदा कम्बुजो मित्र अच्यवत् पश्चात् अवत् (एतत्) काराः (लोकाः) अरिकं अभवन्। पश्चात् अवत् द्रोहः दस्यौ (देशे) आ वशी अभवत्, उत पारस (देशे) उत अन्येषु या दस्युषु (देशेषु) आ।
- **प्राकृत** – पच्छा एददो कम्बुजिय मुद्दाय असियइ। जहा कम्बुजिय मुद्दायं असियइ पच्छा एददो कारा अरिकं हवीअ। पच्छा एददो द्दोहो वसइए हवीअ उत पारसइय उत मादइय उत अण्णेसु दस्सुसु (देसेसु) आ।
- **हिंदी** – पश्चात् इसके कम्बुज मित्र चला गया। जब कम्बुज मित्र चला गया, पश्चात् इसके, लोग अरि हो गए। पश्चात् इसके सभी देशों में द्रोह फैल गया, फ़ारस में, मद (मीडिया) में, और अन्य देशों में।[13]

  प्राचीन फ़ारसी के क्षेत्र का पुराना नाम 'पारस' या 'फ़ार्स' था। इसी आधार पर 'फ़ारसी' शब्द बना है। प्राचीन फ़ारसी का काल प्रारंभ से लेकर ईसा की दूसरी सदी ई. पू. तक है।
- **अवेस्ता** – अवेस्ता का अर्थ है, ''शास्त्र'' या ''ज्ञान ग्रंथ''। जिस तरह से ''वेद'' 'विद्' (जानना) से बना है, ''अवेस्ता'' शब्द इसी अर्थ में वित् धातु से बना है। अवेस्ता पारसियों का धर्म ग्रंथ है, उसकी भाषा भी इसी नाम से जानी जाती है। इसके उपास्य देव अहुरमज़्दा (असुरमेधा) हैं। अवेस्ता का सीधा संबंध प्राकृत भाषा से है। चूंकि इसमें मिलने शब्दों की साम्यता के संबंध में यह भी कहा गया है कि इसमें संस्कृत से समानता है। परंतु गहनता से अध्ययन करने के उपरान्त यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इसका सीधा संबंध प्राकृत के साथ बैठता है। थोड़े से रूप परिवर्तन से हम इसके अर्थ को समझ सकते हैं। ऊपर इसका उदाहरण दिया गया है। अवलोकन करें।
- **मध्यकालीन फ़ारसीः** – इस भाषा का समय तीसरी शताब्दी ई.पू. से पाँचवीं शताब्दी ईतक है। इस युग की भाषा को पहलवी भी कहते हैं। पहलवी शब्द पार्थव से निकला है और पहलवी साम्राज्य अंग्रेज़ी में पार्थियन राजवंश कहलाता है।
- **आधुनिक फ़ारसीः** ईरानी शाखा की प्रमुख भाषा फ़ारसी है और आधुनिक फ़ारसी का समय नवीं शताब्दी ईसवी से माना जाता है। इस युग तक ईरान में इस्लाम का प्रभाव पड़ चुका था। इस कारण फ़ारसी ने अरबी लिपि को अपनाया और बड़ी संख्या में अरबी भाषा से शब्द ग्रहण किए। फिर भी इसकी आधारभूत शब्दावली भारतीय भाषाओं की शब्दावली के समान है। जैसे कुर्दन (करना), खरीदन (खरीदना) (क्रीतना प्रत्यक्ष), दस्त (हस्त), पा (पाद ''पैर'')। ईरानी उपशाखा की तीन-चार और प्रमुख भाषाएँ हैं। ये हैं – पश्तो, बलूच, कुर्वी आदि।
- **दरद शाखा परिवार** – कश्मीरी इस उपशाखा की प्रमुख भाषा है।
- **भारतीय आर्य शाखा परिवार** – भारोपीय परिवार की भाषाओं में जो अद्भुत समानता मिलती है वह प्राकृत, संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, अवेस्ता आदि भाषाओं में, उससे यहा कहा जा सकता है कि इन भाषाओं को बोलने वाले एक ही मूल के थे, इनकी भाषाओं का स्रोत एक ही था। भारतीय आर्य भाषाओं के मूल में

प्राकृत है। क्योंकि प्राकृत जनभाषा के रूप में विद्यमान रही है। भारतीय आर्य भाषा का मूल संस्कृत को ही माना जाता है परंतु ऐसा मानना एकपक्षीय है। इसका कारण भी है कि प्राकृत से अपभ्रंश, अवहट्ट, हिन्दी, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं का जन्म हुआ है, इनका मूलस्त्रोत प्राकृत ही है। संस्कृत इन भाषाओं के मूल में नहीं है। इसलिए भारतीय आर्य भाषाओं का मूल स्त्रोत प्राकृत है।

भारोपरीय भाषा भाषाओं का सबसे बड़ा परिवार है और सबसे महत्वपूर्ण भी है क्योंकि अंग्रेज़ी, रूसी, प्राचीन फारसी, संस्कृत, प्राकृत, पालि, हिन्दी, पंजाबी, जर्मन, नेपाली – ये तमाम भाषाएँ इसी समूह से संबंध रखती हैं। विश्व जनसंख्या के लगभग आधे लोग (४५%) भारोपीय भाषा बोलते हैं।

प्राकृत, संस्कृत, ग्रीक और लातीनी जैसी शास्त्रीय भाषाओं का संबंध भी इसी समूह से है। इस परिवार की प्राचीन भाषाएँ बहिर्मुखी श्लिष्ट-योगात्मक (end-inflecting) थीं। इसी समूह को पहले आर्य-परिवार भी कहा जाता था। भारत, ईरानी या आर्य उपपरिवार का कौटुम्बिक संबंध भारतीय आर्य शाखा परिवार से है। भारतीय आर्यशाखा का ही एक रूप प्राकृत भाषा है। भारतीय आर्यशाखा परिवार के विकास को विद्वानों ने तीन युगों में विभक्त किया है –

१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल १६०० ई.पू. से ६०० ई.पू.

२) मध्यकालीन आर्यभाषा काल ६०० ई.पू. से १०००

3) आधुनिक आर्यभाषा काल ई. १००० से वर्तमान समय

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का प्रयोग ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलता है, इसमें जिस छान्दस् या वैदिक भाषा का प्रयोग है वही प्राचीन आर्यभाषा है। छान्दस् भाषा उस समय की साहित्यिक भाषा तो प्राकृत जनभाषा के रूप में प्रचलित थी। जनभाषा का रूप अथर्ववेद में उपलब्ध है।

प्राकृत भाषा की गणना मध्य भारतीय आर्यभाषा में की जाती है। इसका विकास वैदिक संस्कृति या छान्दस् भाषा से माना जाता है। यतः प्राकृत की प्रकृति वैदिक भाषा से मिलती-जुलती है। यह भी कहा जा सकता है।

- प्राकृत में व्यंजनान्त शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं होता है। जैसे – तावत् – ताव, स्यात् – सिया, कर्मन्-कम्म आदि।
- प्राकृत में विजातीय संयुक्त वर्णों में से एक का लोप कर पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। जैसे – निश्वास – नीसास, विश्वास – वीसास, कत्र्तव्य -कातव्व, दुहरि-दुहार। यही वैदिक साहित्य में स्थिति है।

- स्वर भक्ति के प्रयोग से प्राकृत और छान्दस् दोनों में समानता है। जैसे प्राकृत में- क्लिन्नः - किलिन्न, स्व - सुव आदि। छान्दस में - तन्वः - तनुवः।
- पदरचना में भी दोनों में समानता है।
- तृतीया बहुवचन में प्राकृत में देव शब्द का देवेहि बनता है तो छान्दस् में देवेभिः।
- छान्दस् और प्राकृत में वर्ण लोप कर शब्द को संकुचित करना। जैसे प्राकृत में - राजकुल - राउल, कालायस - कालास आदि। छान्दस् में - पशवे-पश्वे, इत्यादि।
- अकारान्त प्रथमा के एकवचन में ओकारान्त - प्राकृत में - देवः - देवो। छान्दस् - सः चित् - सो चित्।

अतः उपलब्ध प्राकृत भाषा का विकास छान्दस् से ही हुआ है।

- **प्राकृत के भेद -** इसके मूलतः दो भेद है- कथ्य और साहित्य। जो जनबोली के रूपी में विद्यमान रही, प्राचीन समय में वर्तमान थी वह कथ्य है। इसका उपयोग छान्दस् भाषा में मिलता है। यह प्रथम स्तरीय प्राकृत है।

द्वितीय स्तरीय प्राकृत भाषा जिसमें लेखन कार्य संपादित हुये। तीन भागों में विभक्त किया गया है -

१) प्रथम युगीन प्राकृत समय -ई. पू. ६०० से ई. सन. २०० तक

२) मध्य युग समय - ई. २०० से ६०० तक

3) उत्तर अर्वाचीन युग या अपभ्रंश युग समय - ई. ६०० से १२०० तक

- **प्रथम युगीन प्राकृतों में -**

१) शिलालेखीय प्राकृत

२) धम्मपद की प्राकृत

3) आर्ष-पालि

४) प्राचीन जैन सूत्रों की प्राकृत

५) अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

- **मध्ययुगीन प्राकृत -**

१) भास और कालिदास के नाटकों की प्राकृत

२) गीतिकाव्य और महाकाव्यों की प्राकृत

3) परवर्ती जैन काव्यसाहित्य की प्राकृत

४) प्राकृत वैयाकरणों द्वारा निरूपित और अनुशासित प्राकृत

५) वृहत्कथा की पैशाची प्राकृत

- **उत्तर अर्वाचीन युग या अपभ्रंश युग** – इसके अंतर्गत विभिन्न देशों की प्राकृत भाषायें आती है।
- **प्राकृत भाषा के शब्द** – तीन भागों में विभक्त किये हैं – तत्सम, तद्भव, और देश्य।
- **तत्सम** – जो शब्द संस्कृत से प्राकृत में ज्यों के त्यों रूप में ग्रहण कर लिये जाते हैं, जिनकी ध्वनियों में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है, वह तत्सम है। जैसे – नीर, तीर, देवी, केवलय, संसार आदि।
- **तद्भव** – संस्कृत से वर्णलोप, वर्णागम, वर्णपरिवर्तन एवं वर्णविकार द्वारा जो शब्द उत्पन्न हुये हैं, वे तद्भव या संस्कृतभव कहलाते हैं। जैसे – अग्ग– अग्र, इ_–इष्ट, ईसा–ईष्या आदि।
- **देश्य** – जिन प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति अर्थात् प्रकृति प्रत्यय का विभाग नहीं हो सकता है और जिन शब्दों का अर्थ मात्र रूढ़ि पर अवलम्बित है, ऐसे शब्द देश्य या देशी कहलाते हैं। जैसे – अगय (दैत्य), आकासिय (पर्याप्त), इराव (हस्ती), घढ (स्तूप) एवं टंका (जंघा) आदि।
- **प्राकृत की प्रधान विशेषायें –**

१) प्राकृत में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के ऋ, ॡ एवं ॡ का सर्वथा लोप हो गया।

२) ऋवर्ण के स्थान पर अ, इ, उ और रि का प्रयोग होने लगा। जैसे – णच्च–नृत्य, माइ–मातृ, घृणा–घिणा, रिसि–ऋषि।

3) ऐ और और के स्थान पर ए और ओ का प्रयोग। कहीं–कहीं अइ और अउ भी मिलते हैं। जैसे – सेलो–शैलः, कउसलं–कौशलम्, पउरो–पीरः।

४) प्रायः ह्रस्व स्वर सुरक्षित है। अक्खि–अक्षि, उम्मुक्कं–उन्मुक्तम्।

५) स्वराघात के अभाव में दीर्घस्वर ह्रस्व। सीयं–सीताम्, अवमग्गो–अवमार्गः।

६) जिन शब्दों में स्वराघात सुरक्षित है, उन शब्दों में दीर्घस्वर भी बना रह गया। पीठिआ–पीठिका, मूसओ–मूषकः।

७) संयुक्त व्यंजनों के पूर्ववत्री दीर्घस्वर ह्रस्व हो गये। संतो-शान्तः, दंतो-दान्तः।

८) सानुनासिक स्वर बदलकर दीर्घस्वर। सीहो-सिंहः, वीसति-विंशतिः।

९) दीर्घस्वर के स्थान पर सानुनासिक ह्रस्वस्वर। सनंतनो-सनातनः।

१०) प्राकृत में विसर्ग का अभाव। इसके स्थान पर ए या ओ हो गये हैं प्रायः। वच्छो-वृक्षः, देवे-देवः।

११) पदान्त के व्यंजनों का लोप। अंतिम म् के स्थान पर अनुस्वार। पश्चा-पश्चात्, नीचा-नीचैस्।

१२) श, ष और स के स्थान पर केवल एक ही ध्वनि श या स। अस्सो-अश्वः, माणुसो-मनुष्यः, पुलिशे-पुरुषः।

१३) दो स्वरों के बीच में आने वाले क ग च ज त द व का प्रायः लोप। कअलि,कयलि-कदलि, वयणं-वदनम्, णअरं, णयरं-नगरम्, लाअण्णं-लावण्यम्।

१४) कुछ अवस्थाओं में अघोष का सघोष और सघोष का अघोष। गच्छदि-गच्छति, कागो-काकः, कम्बोचो-कम्बोजः, तामोदरो-दामोदरः।

१५) अवर्ग के स्थान पर ट वर्ग के रूप पाये जाते हैं। जैसे - पट्टनं - पत्तनं, वट्टि-वृत्तिः।

१६) संयुक्त व्यंजनान्त ध्वनियों का समीकरण हो गया है। अर्थात् कृत, ल्क्, क्र के स्थान पर त्त, क्क का प्रयोग पाया जाता है।

१७) उष्म ध्वनियों में परिवर्तन हो गये। यथा- स्प् के स्थान पर प्फ्, त्स् के स्थान पर च्छ्, त्य-च्च्, क्व-क्क्, स्न्-न्न।

१८) संगीतात्मक स्वराघात के स्थान पर बलात्मक स्वराघात होने लगा।

१९) द्विवचन का लोप हो गया और अजन्त तथा हलन्त शब्दों के रूप अकारान्त शब्दों के समान ही प्रचलित हो गये।

२०) हलन्त प्रातिपादिक समाप्त हो गये।

२१) धातुओं के कालों तथा वृत्तियों की संख्या में भी कमी हो गई। भूतकाल के तीन रूपों के स्थान पर एक ही रूप हो गया। सम्भावना सूचक वृत्ति समाप्त हो गई। धातुओं के सन्नन्त (इच्छार्थक) और यङन्त (अतिशय बोधक) रूप भी प्रायः समाप्त हो गये।

२२) दस गणों के स्थान पर एक गण ने ही प्रमुखता प्राप्त कर ली।

२३) पालि को छोड़, शेष प्राकृतों से आत्मनेपद का भी लोप।

२४) षष्ठी का प्रयोग चतुर्थी के स्थान और चतुर्थी का प्रयोग षष्ठी के स्थान पर।

२५) संख्यावाची शब्दों में नपुंसकलिंग का विशेष प्रयोग।

❖ **लिपि और लेखन प्रणाली –** लिपि या लेखन प्रणाली का अर्थ होता है किसी भी भाषा की लिखावट या लिखने का ढंग। ध्वनियों को लिखने के लिए जिन चिह्नों का प्रयोग किया जाता है, वही लिपि कहलाती है। लिपि और भाषा दो अलग अलग विषय हैं। भाषा वह है जो बोली जाती है, लिखने को तो उसे किसी भी लिपि में लिख सकते हैं।

विश्व में अनेक भाषाओं का प्रयोग वर्तमान में हो रहा है, परंतु इनके लिखने के लिए लगभग दो दर्जन लिपियों का ही प्रयोग किया जा रहा है। तीन प्रकार की प्रमुख लिपियाँ हैं या लिपि परिवार है –

1. **चित्रलिपि (ideographic scripts)** – चीन, जापान एवं कोरिया में प्रयुक्त लिपियाँ,
2. **ब्राह्मी से व्युत्पन्न लिपियाँ** – देवनागरी तथा दक्षिण एशिया एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में प्रयुक्त लिपियाँ; तथा
3. **फोनेशियन (Phonecian) से व्युत्पन्न लिपियाँ** – सम्प्रति यूरोप, मध्य एशिया एवं उत्तरी अफ्रीका में प्रयुक्त लिपियाँ

ये तीनों लिपियाँ तीन अलग-अलग क्षेत्रों में विकसित हुई जो पर्वतों एवं मरुस्थलों द्वारा एक-दूसरे से अलग-अलग स्थित हैं।

- **अल्फाबेटिक लिपियाँ** – इसमें स्वर अपने पूरे अक्षर का रूप लिये व्यंजन के बाद आते हैं।
- **लैटिन लिपि (रोमन लिपि)** -- अंग्रेज़ी, फ्रांसिसी, जर्मन, कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग और पश्चिमी और मध्य यूरोप की सारी भाषाएँ
- **यूनानी लिपि** -- यूनानी भाषा, कुछ गणितीय चिन्ह
- **अरबी लिपि** -- अरबी, उर्दू, फ़ारसी, कश्मीरी
- **इब्रानी लिपि** -- इब्रानी
- **सीरिलिक लिपि** -- रूसी, सोवियत संघ की अधिकांश भाषाएँ

- **अल्फासिलैबिक लिपियाँ** – इसकी हर एक इकाई में एक या अधिक व्यंजन होता है और उसपर स्वर की मात्रा का चिह्न लगाया जाता है। अगर इकाई में व्यंजन नहीं होता तो स्वर का पूरा चिह्न लिखा जाता है।
- **शारदा लिपि** – कश्मीरी भाषा, लद्दाखी भाषा, हिमाचली/पहाड़ी/डोंगरी भाषा, पंजाबी/गुरुमुखी भाषा,तिब्बती भाषा, उत्तर – पश्चिमी भारतीय भाषा की लिपि
- **देवनागरी लिपि** – हिन्दी भाषा, काठमाण्डू भाषा (नेपाली भाषा), भोजपुरी भाषा, बंगाली भाषा, उड़िया भाषा (कलिंग भाषा), असमिया भाषा, राजस्थानी भाषा, गुजराती भाषा, मारवाड़ी भाषा, सिन्धी भाषा, गढ़वाली भाषा, छत्तीसगढ़ी भाषा, अवधी, मराठी, कोंकणी
- **मध्य भारतीय लिपि** – तेलुगू भाषा
- **द्रविड़ लिपि** – तमिल भाषा, कन्नड़ भाषा, मलयालम भाषा, कोलंबो (श्रीलंकाई) भाषा

दक्षिण भारतीय भाषाओं व बौद्ध धर्म के प्रचारकों द्वारा पूर्वमें भाषा को क्रमबद्ध एवम् व्यवस्थित किया गया जिससे चित्र लिपि में भी मात्राओं जैसी प्रवृत्ति विकसित हो गई। अन्य भाषाएँ

- **मंगोलियन लिपि** – जापानी भाषा, कोरियाई भाषा, मैण्डरिन भाषा, चीनी भाषा, तुर्कमेनिस्तान भाषा, दक्षिण पूर्वी सोवियत गणराज्य के देशों की भाषाएँ।
- **चित्र लिपियाँ**– ये सरलीकृत चित्र होते हैं।
- **प्राचीन मिस्री लिपि** –– प्राचीन मिस्री
- **चीनी लिपि** –– चीनी (मंदारिन, कैण्टोनी)
- **कांजी लिपि** –– जापानी
- **लेखन की दिशा (बाएं से दाएं या दाएं से बाएं) –**
- लेखन की दिशा बाएं से दाएं, दाएं से बाएं, ऊर्ध्वाधर, या नीचे से ऊपर हो सकती है।
- बाएं से दाएं लिखने वाली लेखन प्रणालियों को सिनिस्ट्रोडेक्सट्रल कहते हैं. यह शब्द लैटिन भाषा के शब्द 'सिनिस्टर' (बाएं) और 'डेक्सटर' (दाएं) से मिलकर बना है।
- दाएं से बाएं लिखने वाली लेखन प्रणाली को डेक्सट्रोसिनिस्ट्रल कहते हैं।
- प्राचीन बर्बर लिपि को पहले क्षैतिज पंक्तियों में दाएं से बाएं लिखा जाता था, लेकिन बाद में इसे ऊर्ध्वाधर स्तंभों में नीचे से ऊपर लिखा जाने लगा।
- मिस्र की चित्रलिपि को अलग-अलग पंक्तियों के लिए अलग-अलग दिशाओं में लिखा जा सकता था।
- कुछ प्राचीन न्यूमिडियन ग्रंथ नीचे से ऊपर लिखे गए थे।

- लेखन की दिशा से जुड़ी कुछ और दिशाएं हैं - ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर।
- लेखन की दिशा से जुड़े कुछ शब्द हैं - बुस्ट्रोफ़ेडोनिक।
- **प्राकृत भाषा के लेखन की लिपि -** उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि लेखन के लिए संकेत अलग है और उनको बोलने के लिए ध्वनि अलग है। प्राकृत भाषा का लेखन ब्राह्मी लिपि में अशोक के शिलालेखों में प्राप्त होता है। इसके अलावा द्राविड लिपि, शारदा लिपि में भी प्राकृत के अ भिलेख प्राप्त होते हैं। पाण्डुलिपियों में अध्ययन करने से पता चलता है कि देवनागरी लिपि में प्राकृत भाषा का लेखन किया गया। श्रीभूवलय ग्रन्थ जिसमें अनेकानेक भाषाओं का समायोजन है उसकी लिपि बिल्कुल भिन्न है। अरबी लिपि अरबी, उर्दू, फ़ारसी, कश्मीरी में भी प्राकृत का लेखन किया गया।

3. ध्वन्यात्मकता - भाषा की ध्वनियों की संरचना से तात्पर्य है कि अलग-अलग भाषाओं में ध्वनियों का संगठन पृथक् पृथक् होता है। इस संबंध में विशेष वर्णन यहाँ कर रहे हैं। भाषा की ध्वनियों को स्वर और व्यंजन में बांटा जाता है।

- **भाषा की ध्वनियों की संरचना -**
- **प्राकृत के अक्षरों को वर्ण कहा जाता है।**
- **वर्णमाला के अक्षर ध्वनियों के सबसे बुनियादी रूप हैं।**
- **प्राकृत शब्दावली में ज्यादातर ऐसे शब्द हैं जो आम इंडो-यूरोपीय मूल के हैं।**
- **प्राकृत भारत की कई लिपियों में लिखी जाती रही है, लेकिन आधुनिक युग में देवनागरी लिपि के साथ इसका विशेष संबंध है।**
- **देवनागरी लिपि में हर एक चिह्न के लिए एक और केवल एक ही ध्वनि है।**
- **स्वर और व्यंजन की संख्या और स्वरूप -**

प्राकृत वर्णमाला में कुल 39 वर्ण होते हैं।

इनमें 8 स्वर, 31 व्यंजन।

- **स्वर -** अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ
- **व्यंजन**
- क ख ग घ ङ
- च छ ज झ ञ
- ट ठ ड ढ ण

- त थ द ध न
- प फ ब भ म
- य र ल व
- स ह
- अनुस्वार, अनुस्वार चाँद बिन्दु सहित

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि असंयुक्त अवस्था में ङ और ञ का प्रयोग प्राकृत में नहीं पाया जाता है। हेमचन्द कृत अपभ्रंश व्याकरण में ङ और ञ का संयुक्त प्रयोग उपलब्ध है। न का भी असंयुक्त और संयुक्त अवस्था में प्रयोग देखा जाता है। ङ ञ न के स्थान पर संयुक्त अवस्था में अनुस्वार भी विकल्प से होता है। शब्द के अन्त में स्वररहित व्यंजन नहीं होते हैं।[14]

- प्राकृत में स्वर तीन प्रकार के होते हैं – ह्रस्व स्वर, दीर्घ स्वर, और प्लुत स्वर।
- प्राकृत में व्यंजन चार प्रकार के होते हैं – स्पर्श व्यंजन, अंतस्थ व्यंजन, ऊष्म व्यंजन और संयुक्त व्यंजन।
- प्राकृत में शून्य, एक या अधिक व्यंजनों और एक स्वर के मेल से एक अक्षर बनता है।
- प्राकृत में आठ विभक्तियाँ होती है।
- प्राकृत में दो प्रकार की क्रियाएं होती है– अकर्मक और सकर्मक।
- प्राकृत में सामान्यतया चार काल हैं –
  1. वर्तमान काल
  2. भूत काल
  3. भविष्य काल
  4. विधि या आज्ञा
- प्राकृत में चार प्रकार के शब्द पाए जाते हैं –

1. अकारान्त
2. आकारान्त
3. इकारान्त
4. उकारान्त(उ,ऊ)

प्राकृत में दो वचन होते हैं – एकवचन और बहुवचन।
प्राकृत में तीन लिंग होते हैं – पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग।
प्राकृत में तीन पुरुष होते हैं – उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष।

- **विशेष**[15] – ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ऐ, औ, ङ, ञ, श, ष, विसर्जनीय विसर्ग और लुप्त को छोड़ करके शेष वर्ण व्यवस्था लौकिक वर्ण व्यवस्थानुसार समझ लेना चाहिए। : और ञ ये अपने अपने वर्ग के अक्षरों के साथ संयुक्त रूप से अर्थात् हलन्त रूप से पाये जाते हैं।
- ऐ और औ भी कहीं कहीं पर देखे जाते हैं। जैसे – कैतवम् – कैअवं। सौन्दर्यम् – सौंअरिअं। कौरवाः – कौरवा। इन उदाहरणों में ऐ और औ की उपलब्ध है।
- प्राकृत भाषा में स्वर रहित व्यंजन नहीं होता है।
- द्विवचन और चतुर्थी का बहुवचन भी नहीं होता है।
- द्विवचन की अभिव्यक्ति बहुवचन के रूप में होती है, एवं चतुर्थी बहुवचन का उल्लेख षष्ठी बहुवचन के प्रत्यय संयोजित करके किया जाता है।

❖ साहित्य और संस्कृति –

- **प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्य –**

कवि वाक्पतिराज ने कहा है –

णवमत्थ-दंसणं संनिवेस सिसिराओ बन्ध-रिद्धीओ।

अविरलमिणमो आभुवण-बन्धमिह णवर पययम्मि।।[16]

शब्दार्थ – णवमत्थ दंसणं (नवीन अर्थ का दर्शन), संनिवेस (रचना), सिसिराओ (सुंदर), बन्ध-रिद्धीओ (प्रबन्ध-सम्पत्ति), अविरलमिणमो (यह निरंतर), आभुवण-बन्धमिह (सृष्टि के प्रारंभ से लेकर आज तक), णवर (केवल), पाययम्मि (प्राकृत में)।

अर्थ – सृष्टि के प्रारंभ से लेकर आज तक प्रचुर परिमाण में नूतन-नूतन अर्थों का दर्शन तथा सुंदर रचनावली प्रबन्ध-सम्पत्ति यदि कहीं भी है, तो केवल प्राकृत में है।

प्राकृत भाषा के ललित और सुकुमार होने से काव्य रचना आरंभ से ही होती आ रही है। प्राकृत भाषा के प्रबन्ध काव्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है –

१. शास्त्रीय महाकाव्य या केवल रसमय महाकाव्य

२. खण्डकाव्य

3. चरितकाव्य

यह सत्य है कि प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्य संस्कृत महाकाव्यों की शैली पर ही निर्मित है। श्रृंगाररस की इतनी सुंदर व्यंजना अन्यत्र संभवतः नहीं मिल सकेगी। प्राकृत के कवियों ने संस्कृत महाकाव्यों से रूप-संयोजन और कलात्मक प्रौढ़ि को ग्रहण किया है। अतः शास्त्रीय प्राकृत महाकाव्यों में निम्नलिखित तत्त्व पाये जाते हैं -

१. कथात्मकता और छन्छोबद्धता।

२. सर्गबद्धता या खण्डविभाजन और कथा का विस्तार।

*. जीवन के विविध और समग्र रूप का चित्रण।

४. लोकगीत और लोककथाओं के अनेक तत्त्वों के सम्मिश्रण से संगठित कथानक निर्माण।

५. शैली की गंभीरता, उदात्तता और मनोहारिता।

संक्षेप में कहे तो महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है, जिसमें क्षिप्र कथा-प्रवाह, अलंकृत वर्णन और मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवन्त कथानक होता है, जो रसात्मकता या प्रभान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण सक्षम है। शास्त्रीय प्राकृत महाकाव्यों में यथार्थ कल्पना या सम्भावना पर आधारित ऐसे चरितों का विन्यास किया गया है, जो अपने युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं। महत्प्रेरणा और महदुद्देश्य भी इन काव्यों में प्रतीकात्मक या अप्रत्यक्षरूप में विद्यमान रहता है। रसात्मकता के साथ घटनाओं का संशि£ष्ट और समन्वित रूप समग्र जीवन के विविध रूपों को उपस्थित करता है।

गुरुत्व के अभाव में कोई भी महाकव्य, महाकाव्य की श्रेणी में परिगणित नहीं किया जा सकता है।

मानव प्रकृति, मानसिक दशायें, मानवीय प्रवृत्तियाँ और उपलब्धियाँ, मानव और प्रकृति का सम्बन्ध और संघर्ष, मानव-मानव का पारस्परिक सम्बन्ध और संघर्ष एवं तत्कालीन सामाजिक कार्यव्यापार काव्य में समाविष्ट होकर अपने युग का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं। अतः महाकाव्य में विविध घटनाओं का प्रवाह फल प्राप्ति की ओर ही अग्रसर रहता है।

शास्त्रीय महाकाव्य - महाकाव्य की कथा का आयाम समचतुरस्र होता है। शास्त्रीय महाकाव्य की कथावस्तु गति वर्तुल (पनडुब्बी के समान है, जो अपनी स्वेच्छया गति से कहीं तेजधारा को काटकर और कहीं यों ही उचटकर आगे बढ़ता है)रूप होती है। इसकी घटनायें कहीं संघर्षों के बीच से आगे बढ़ती है, तो कहीं यो ही ऊपर-ऊपर होकर निकल जाती है।

चरितकाव्य – चरितकाव्य की कथा का आयाम समानांतर चतुरस्र होता है। दोनों के कथानक में पर्याप्त विस्तार होता है, सम्पूर्ण जीवन का चित्रण किसी विशेष सीमा रेखा के भीतर आबद्ध किया जाता है। चरितकाव्य की कथा नायक के चरित का विश्वलेषण करती है, पर उपदेश, धर्मतत्त्व और आचार संबंधी निष्टायें इतनी अधिक रहती है, जिससे कथा का आयाम शास्त्रीय महाकाव्य की अपेक्षा बड़ा होता है। चरितकाव्य की घटनाओं की गति दीर्घवर्तुल (ढोलक के समानप धक्का देता हुआ-सा है)होती है। उसके घटना प्रवाह में ऐसा धक्का लगता है जिससे चरित्र का साक्षात्कार दृष्टिगोचर होने लगे, वर्णन अपना प्रवाह वहीं तक सीमित रखते हैं, जहाँ तक रागात्मक संबंध के उद्घाटन में बाधा उत्पन्न नहीं होती है।

अतएव प्राकृत काव्यों का विश्लेषण स्पष्टतः शास्त्रीय महाकाव्य और चरितमहाकाव्य इन दोनों श्रेणियों में करना उचित है। यहाँ शास्त्रीय महाकाव्य से हमारा तात्पर्य शुद्ध रसात्मक काव्यों से हैं, जो मानव मात्र की रागात्मिका वृत्ति की उद्बुद्ध करने की पूर्ण क्षमता रखते हैं।

सेतुबन्ध/रावणवध –

कथात्मक संगठन और घटनात्मक विकास की दृष्टि से यह महाकाव्य अद्वितीय है। संस्कृत का कोई भी महाकाव्य इस दृष्टि से इसकी समकक्षता प्राप्त नहीं कर सकता है। इस महाकाव्य में दो मुख्य घटनायें हैं – सेतुबन्ध और रावणवध। इन दोनों घटनाओं के आधार पर ही इसका नामकरण सेतुबन्ध या रावणवध किया गया। जिस उत्साह और विस्तार से कवि ने सेतु रचना का वर्णन किया है, उससे यही लगता है कि काव्य का फल भले ही रावणवध हो, पर समस्त घटना का केन्द्र सेतु रचना का है। अतएव इसका नाम सेतुबन्ध सार्थक है।

इस महाकाव्य में १२९१ गाथायें हैं। जो १५ आश्वासों में विभक्त है। १२४७ में आर्यागीति गाथा छन्द है और ४४ में विविध प्रकार के छन्द है। इसके रचयिता प्रवरसेन नामक महाकवि है। इस काव्य की रचना का काल पाँचवीं शताब्दी है। इसके रचयिता कालिदास नहीं है, अपितु वाकाटक वंशी द्वितीय प्रवरसेन है। कारण – विचारों, कल्पनाओं और उद्भावनाओं की दृष्टि से दोनों कवियों के क्षेत्र नितान्त भिन्न है। कालिदास सामान्यतः कोमल कल्पना के आचार्य है, तो प्रवरसेन विराट् के। सेतुबन्ध कालिदास के काव्य की अपेक्षा अधिक अलंकृत है। इसकी महाराष्ट्री प्राकृत कालिदास के नाटकों की शौरसेनी प्राकृत की अपेक्षा भिन्न है।

सेतुबन्ध महाराष्ट्री प्राकृत का महाकाव्य है। प्राकृत महाकाव्यों में सर्ग के स्थान पर आश्वासों का प्रयोग होता है, जो कि इस काव्य में दृष्टिगत है। इस काव्य के नायक राम है, राम आदर्श धीरोदात्त नायक है।

सेतुबन्ध प्राकृत भाषा का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य माना जाता है। इसी प्रकार के काव्यों से प्रेरित होकर महाकवि दण्डी ने महाराष्ट्र में बोली जाने वाली प्राकृत को सर्वश्रेष्ठ प्राकृत कहा है जिसमें कि सूक्तिरूपी रत्नों के सागर सेतुबंध की रचना की गई है।

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।

सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्।। [17]

यह काव्य रावणवध अथवा दशमुखवध के नाम से भी जाना जाता है। वानरसेना के प्रस्थान से लेकर रावणवध तक की रामकथा का वर्णन है। सेतुबन्ध की भाषा साहित्यिकि प्राकृत है। जिसमें समासों और अलंकारों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। यमक, अनुप्रास और श£ेष की मुख्यता है। तत्कालीन संस्कृत काव्यशैली का इस पर गहरा प्रभाव है। सम्पूर्ण कृति एक अही आर्या छन्द में है। सेतुबन्ध पर अनेक टीकायें लिखी गई हैं। जिनमें जयपुर राज्य के निवासी अकबरकालीन रामदास की रामसेतुप्रदीपम् टीका प्रसिद्ध है। यह टीका ईसवी सन् १५९५ में लिखी गई।

कथा का आधार बाल्मीकि रामायण का युद्धकाण्ड है। विरह से संतप्त राम हनुमान द्वारा सीमा का समाचार पाकर लंका की ओर प्रस्थान करते हैं, लेकिन मार्ग में समुद्र आ जाने से रुक जाते हैं। वानर-सेना समुद्र का पुल बाँधती है। राम समुद्र की पार कर लंका नगरी में प्रवेश करते हैं, और रावण तथा कुम्भकर्ण आदि का वध करके सीता को छुडा लाते हैं। अयोध्या लौटने पर उसका राज्याभिषेक किया जाता है। पहले आठ आश्वासों में शरद् ऋतु, रात्रिशोभा, चन्द्रोदय, प्रभात, पर्वत, समुद्रतट, सूर्योदय, सूर्यास्त, मलयपर्वत, वानरों द्वारा समुद्र पर सेतु बाँधने आदि को सुंदर और काव्यात्मक वर्णन है। उत्तरार्ध में लंका नगरी का दर्श, रावण का क्षोभ, निशाचारियों का संभोग, प्रमदवन, सीता की मूच्छा, लंका अवरोध, युद्ध तथा रावणवध आदि।

समुद्रवेला का वर्णन -

विअसिअ-तमालणीलं पुणो पुणो चल-तरंग-कर-परिम_म्।

फुल्ले-लावण-सुरहिं उअहि गइन्दस्स दाणलेहं व ठिअम्।।[18]

समुद्रतट विकसित तमाल वृक्षों से श्याम हो गया था, बार-बार उठने वाली चंचल तरंगों से वह परिमार्जित था, और प्रफुल्लित इलायची के वन से सुगंधित था। हाथी की मदधारा के समान यह शोभित हो रहा था।

समर्थ के संबंध में उक्ति कही गयी है -

ते विरला सप्पुरिसा जे अभणन्ता घडेन्ति कज्जालावे।

थोअ चिअ ते वि दुमा जे अमुणि-अकुसुम-निग्गमा देन्ति फलं।।[19]

जो बिना कुछ कहे ही कार्य कर देते हैं, ऐसे सत्पुरुष विरले ही होते हैं। बिना पुष्पों के फल देने वाले वृक्ष बहुत कम ही होते हैं।

समर्थ पुरुषों को लक्ष्य करके कहा गया है -

आहिअ समराअमणा वसणम्मि अ उच्छवे अ समराअमणा।

अवसाअ-अविसमत्था धीरच्चिअ होन्ति संसए वि समत्था।। 3/२०

समर्थ लोग संशय उपस्थित होने पर धीरता धारण करते हैं। संग्राम उपस्थित होने पर वे अपने आप को समप्रित कर देते हैं। सुख और दुःख में वे समभाव धरते हैं, और संकट उपस्थित हो जाने पर विचार कर कार्य करते हैं।

स्त्रियों के अनुराग की अभिव्यक्ति -

अलअं छिवइ विलक्खो पडिसारेइ वलअं जमेइ णिअत्थम्।

मोहं आलवइ सहि दइआलो-अणडिओ विलासिणी-सत्थो।।[20]

विलासिनी स्त्रियाँ कहीं से अकस्मात आये हुये अपने प्रिय को देखकर लज्जा से चंचल हो उठती है। वे अपने केशों को स्पर्श करती हैं, कड़ों को ऊपर-नीचे करती है, वस्त्रों ठीक-ठाक करने लगती है, और अपनी सखी से झूठ-मूठ का वार्तालाप करने लगती है।

नवोढ़ा के प्रथम समागम के संबंध में कहा है -

ण पिअइ दिण्णं पि मुहं ण पणामेइ अहरं ण मोएइ बला।

कह वि पडिवज्जइ रअं पढम-समागम-परम्मुहो जुवइजणो।।१०/७८

नवोढ़ा स्त्री प्रिय द्वारा उपस्थित किये हुये मुख का पान नहीं करती है, प्रिय के द्वारा याचित किये हुये अधर को नहीं झुकाती है, प्रिय द्वारा अधर औष्ठ से आकृष्ट किये जाने पर जबरजस्ती से उसे नहीं छुड़ाती है। इस प्रकार प्रथम समागम में लज्जा से पराङ्मुख युवतियाँ बड़े कष्टपूर्वक रति सम्पन्न करती है।

केच्चिरमेत्तं व ठिई एअ विसंवाइआ ण मेच्छिहि रामम्।

कमलम्मि समुप्पण्णा तं चिअ रअणीसु किं ण मुंचइ लच्छी।।[21]

क्या अधिक समय बीत जाने पर इस प्रकार विचलित राम को धैर्य छोड़ न देगाïï ? कमल से उत्पन्न लक्ष्मी क्या रात में उसका त्याग नहीं कर देती।

गउडवहो

यह एक ऐतिहासिक काव्य है। इसके रचयिता वाक्पतिराज है। यह कवि कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रय में रहता था। इस काव्य में उसने कन्नौज के राजा यशोवर्मा द्वारा गौड देश मगध केकिसी राजा के वध किये जाने का वर्णन किया है। इदमें १२०९ गाथायें है। ग्रन्थ का विभाजन सर्गों में न होकर कुलकों में हुआ है। सबसे बड़े कुलक में १५० पद्य और सबसे छोटे में ५ पद्य है।

प्राकृत के नाटक और सट्टक

जनसामान्य के आनन्द के लिये साहित्य की रचना हुई। उनका यह आनंद इतिहासपरक, सामाजिक, भावनापरक, नवीन विषयों को जानने और जीवन से जुड़ाव या अन्य किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसी उपक्रम में लोकसाहित्य की रचना काव्य और कथा के रूप में की गई। जब काव्य के रूप में साहित्य लिखा गया, तो निश्चित ही उस काव्य का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य आनंद की प्राप्ति फलीभूत होता हुआ स्पष्ट हुआ। काव्य की रचना का भाषा का माध्यम आवश्यक रहा है। काव्य ने अपने लोकव्यवहार की भाषा और राजसिक भाषा दोनों का प्रयोग किया। राजाओं को प्रसन्न करने के लिये संस्कृत भाषा में काव्य लिखा गया और जनसामान्य के लिये प्राकृत भाषा में काव्य का सृजन हुआ। प्राकृत में काव्यलेखन की परम्परा बहुत पुरानी है। नाट्याचार्यों ने दश रूपकों और अठारह उपरूपकों को विषय बनाकर काव्यसृजन किया है। इन भेदों में भाण, डिम, वीथी, त्रोटक, सट्टक, गोष्ठी-प्रेंखण, रासक-हल्लीशक और भणिका। ये लोकनाट्य के प्रकारान्तर होने पर भी इनकी रचनाओं का गहन संबंध प्राकृत भाषा से है।

भाण - धूर्त अथवा विट।

प्रहसन - पाखण्डी, चेट, चेटी, विट, नीच पात्र और नपुंसक।

डिम - गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि।

भाणिका - मूर्ख पात्र।

त्रोटक - विदूषक।

प्रेंखण - नायक हीन पुरुष होता है।

हल्लीश – एक ही पुरुष होता है, स्त्रियाँ आठ–दश होती है।

रासक या रासी– लोक परम्परा के अनुसार।

अश्वघोष ने नाटक को बहुत ही प्रौढ़ रचना कही है। भरतमुनि नाट्यशास्त्र के माध्यम से नाटक के नियमों का प्रतिपादन किया है। भरतमुनि नाट्यशास्त्र में कहते हैं –

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादिभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। [22]

ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ्य(संवाद) सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस के तत्त्वों को लेकर नाट्यवेद का निर्माण किया है।

अधिकांश विद्वानों का मानना है कि नाटक उत्पत्ति संवाद, संगीत, अभिनय और नृत्य से हुई है, जो कि वेदों से ही ग्रहण किये हैं अर्थात् नाटकों का विकास वैदिक साहित्य से हुआ है। नाटकों का उल्लेख विभिन्न निम्नस्थानों पर मिलता है–

- महाभारत के विराट् पर्व में रंगशाला का मिलता है।
- रामायण आश्रित हरिवंश पुराण में नाटक खेले जाने का उल्लेख मिलता है।
- रामयण में कई स्थानों पर नट, नर्तक, नाटक और रंग–मंच का कई स्थलों पर वर्णन मिलता है।
- पाणिनि ने नटसूत्र और नाट्यसूत्र का उल्लेख किया है।[23]
- पतंजलि के महाभाष्य में कंसवध और बालिबन्धन नामक दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

उक्त प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि नाटक लेखन की परम्परा भारतवर्ष की बहुत प्राचीन है। महिमभट्ट लिखते हैं –

अनुभावविभावानां वर्णनं काव्यमुच्यते।

तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यगीतादिरंजितम्।। [24]

अनुभाव और विभावादि के वर्णन जो प्राप्त होने वाली आनंदानुभूति का नाम काव्य है और जब वह काव्य गीतादि से रंजित और नटों द्वारा उसको प्रयोग किया जाता है तो वह नाटक कहलाता है।

नाटक की उत्पत्ति लोक प्रचलित नृत्य और संगीत से हुई है। नृत्य, हावभाव प्रदर्शन और संगीत इन तीन तत्त्वों के मूलरूप से नाटकों की उत्पत्ति हुई है। पाणिनि ने नाट्य की उत्पत्ति नट् धातु से, रामचन्द्र

गुणचन्द्र ने नाट् धातु से, बेवर और मोनियर ने नट् धातु नृत धातु का प्राकृत रूप कहा है। नट् धातु का अर्थ गात्र विक्षेपण और अभिनय दोनों है। दशरूपक में नृत, नृत्य और नाट्य तीनों में अन्तर स्पष्ट करते हुये कहा है – नृत के मायने है ताल और लय के आश्रित जो होता है, नृत्य के मायने होते हैं भावाश्रित और नाट्य के मायने है रसाश्रित।[25]

अतएव नाटक की उत्पत्ति मूलतः लोकजीवन से हुई है, किन्तु विकसित होने पर नाटक काव्य बन गया है। आरंभ में रूपक शब्द ही नाटक के लिये व्यवहृत किया जाता होगा।

नाटकों की प्राचीनता के विषय में ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद की वाजसनेयिसंहिता के एक प्रसंग से अवगत होता है कि वैदिक युग में शैलूष नामक जाति के लोग व्यवसायिक रूप से नाटकों का आयोजन कर जीविकापार्जन किया करते थे। यज्ञ के अवसरों पर नृत्य–गीतादि के लिये सूत और शैलूष लोगों की नियुक्ति की जाती थी, जो कि नृत्य एवं संगीत द्वारा नाट्याभिनय करते थे।

जवनिका – नाटक के परदे को जवनिका कहा जाता है। जवनिका शब्द का प्रयोग पटमण्डप को ढकने वाले परदे के लिये किया जाता है। गति तथा वेगसूचक जु धातु से ल्युट् प्रत्यय होने यह शब्द निष्पन्न होता है। अतः इसका व्युत्पतिपरक अर्थ है वह वस्तु जो वेग से सम्पन्न हो, जिसे गति प्राप्त हो अर्थात् जो इधर–उधर हटाई जा सके।

विष्कम्भक – जो घटनायें घट चुकी है और जो भविष्य में होने वाली है, उन दोनों की सूचना देने वाला विष्कम्भक होता है।

नाटक में तीन प्रकार के पात्र होते हैं –

उत्तम – जिसमें राजा आदि संस्कृत बोलते हैं।

मध्यम – जिसमें अमात्य, सेनापति आदि संस्कृत बोलते हैं।

अधम – जिसमें दास, चेटी आदि प्राकृत भाषा बोलते हैं।

विष्कम्भक का प्रयोग अंक के प्रारंभ किया जाता है। मुख्य रूप से इसके सूचक मध्यम श्रेणी के पात्र होते हैं।

प्रवेशक – भूत और भविष्य अर्थ की सूचना एक या अनेक नीच पात्रों द्वारा दो अंकों के बीच में देने वाला प्रवेशक होता है। इसके समग्र पात्र निम्न श्रेणी के होते हैं और प्राकृत भाषा बोलते हैं।

सट्टक में विष्कम्भक, प्रवेशक और अंक का अभाव होता है। सर्वप्रथम तो सट्टक में अंक का अभाव होता है, और अंक के अभाव होने के कारण विष्कम्भक और प्रवेशक का अभाव स्वयमेव हो जाता है। क्योंकि इन दोनों की भूमिका अंक में ही परिलक्षित होती है।

सट्टक

सट्टक का लक्षण भरतमुनि के द्वारा उपदिष्ट नहीं है। सर्वप्रथम अभिनवगुप्त के कथनानुसार कोहल ने इसका लक्षण कहा है। सट्टकों में सर्वप्रथम रचना राजशेखर की कर्पूरमंजरी है। अलंकारशास्त्रियों के द्वारा दश रूपक और अठारह उपरूपकों का वर्णन किया गया है। इनमें सट्टक का उल्लेख नहीं किया गया है। परन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने रूपकों की संख्या १२ बताई है, जिसमें नाटिका और सट्टक को भी जोड़ा गया है। इसी प्रकार से रामचन्द्र गुणचन्द्र ने भी बारह रूपक कहे हैं जिसमें नाटिका और प्रहरणी को जोड़ा गया है। शारदातनय ने बीस उपरूपकों की चर्चा की है जिसमें सट्टक को भी जोड़ा गया है। शारदातनय के पूर्व रामचन्द्र ने नाट्यदर्पण में तेरह रूपक लिये हैं, जिसमें से एक सट्टक भी जोड़ा गया है।

विष्कम्भक-प्रवेशक-रहिता यस्त्वेकभाषया भवति

अप्राकृत-संस्कृतया स सट्टको नाटिकाप्रतिमः।।[26]

कतिपय विद्वानों ने सट्टक की गणना नाटिका और त्रोटक के समान की है, तो कतिपय ने रूपकों में और उपरूपकों में की है। जिस प्रकार नाटक और प्रकरण सजातीय है, उसी प्रकार नाटिका और सट्टक भी। नाटिका का निर्माण नाटक और प्रकरण के मिश्रण से होता है। साहित्यदर्पणकार ने सट्टक को उपरूपकों के अंतर रखा है और सट्टक को नाटिका के समान कहा है। राजशेखर ने इसे प्राकृतबन्ध (पाइयबंध) कहा है, नृत्य द्वारा इसका अभिनय किया जाता है (सट्टअं णच्चिदव्वं)।

सट्टक नृत्य, नाच या हाव-भाव पूर्वक नृत्य से निकला है। डॉ. ए.एन.उपाध्ये ने चन्दलेहा की प्रस्तावना में लिखा है - सम्भवतः यह द्राविड भाषा का शब्द है। क प्रत्यय को हटा देने पर इसमें दो शब्द शेष रह जाते हैं - स और अट्ट या आट्ट। द्राविड में आट्ट या आट्टम का अर्थ नृत्य या अभिनय होता है, जो मूल धातु अड्डु या आडु से बना है जिसका अर्थ नाचना या हाव-भाव दिखलाना होता है। यदि मूल अर्थ नाचना होगा तब लुप्त शब्द रूपक होगा। अतएव नृत्य युक्त नाटकीय प्रदर्शन को सट्टक कहा जायेगा। सट्टक में नृत्य का बाहुल्य रहता है। शारदातनय ने भी नृत्यभेदात्मक सट्टक को कहा है।

सट्टक का विषय प्रेम प्रधान होता है। कैशिकी और भारती वृत्तियाँ रहती है, तथा नृत्य प्रधान होने के कारण यह एक प्राचीन नाटक विधा है।

सट्टक का स्वरूप – यह प्राकृत भाषा में निबद्ध होता है। इसमें प्रवेशक, विष्कम्भक और अंक का अभाव होता है। रौद्र रस और संधि नहीं होती है। अद्भुत रस की प्रधानता होती है। अंक के स्थान पर जवनिका होती है, जिसमें छादन, स्खलन, भ्रान्ति और निह्नव का अभाव रहता है। इसके अंकों को जवनिका कहते हैं। इसमें अन्य बातें नाटिका के समान होती है। कर्पूरमंजरी में राजशेखर ने स्वयं कहा है –

सो सट्टओ त्ति भणइ दूरं जो णाडिआइं अणुहरइ।

किं उण एत्थ पवेसअ-विक्कंभाई ण केवलं होंति।। [27]

सो सट्टओ सहअरो किल णाडि आए, ताए चउज्जवणिअंतर-बंधु रंगो।

चित्तत्थ-सुत्तिअ-रसो परमेक्क-भासो, विक्खंभ आदि-रहिओ कहिओ बुहेहि।। [28]

विशेषतायें –

- नाटिका के समान कथावस्तु कल्पित होती है।
- नायक प्रख्यात और धीर ललित राजा होता है।
- श्रृंगाररस की प्रधानता होती है।
- ज्येष्ठ, प्रगल्भ, राजकुलोत्पन्न, गंभीर और मानिनी महारानी होती है। और इसी कारण से नायक का नूतननायिका से समागम होता है।
- नायिका मुग्धा, दिव्या और कुलोत्पन्ना होती है।
- चार जवनिकायें होती है।
- प्रवेशक, विष्कम्भक और अंक का अभाव होता है।
- अद्भुत रस की प्रधानता होती है।
- नायक अन्य नायिका से प्रेम करता है, पर महिषी उस प्रेम में बाधक बनती है। अन्त में उसी की सहमति से दोनों में प्रणय-व्यापार सम्पन्न होता है।
- स्त्री पात्रों की बहुलता होती है।
- प्राकृत भाषा का आद्योपांत प्रयोग होता है।
- नृत्य की प्रधानता होती है।
- अन्त में आश्चर्यजनक दृश्यों की योजना अवश्य की जाती है।

नाटिका – दशरूपक के अनुसार नाटक और प्रकरण के मिश्रण को नाटिका कहते हैं। जिसका नायक नाटक से लिया गया है और कथावस्तु प्रकरण से। अतः नाटिका के नाटक इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति ही होते हैं। परन्तु इनका वृत्त कवि कल्पना से प्रसूत होता है। नाटिका के प्रणयन का प्रारंभ महाराज हर्षवर्धन (सप्तम शती) से होता है। उन्होंने रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नामक नाटिकाओं का प्रयणन किया है।

सन्धि – सन्धि का अर्थ होता है जोड़। कोई भी वस्तु बिना जोड़ों की नहीं होती है। अनेक जोड़ों को समुचित रीति से मिला देने पर वह समग्र पदार्थ एक विशिष्ट समन्वित रूप से हमारे नेत्रों के सामने आता है। नाटक भी ऐसा ही एक समन्वित पदार्थ है जिसमें पाँच सन्धियाँ होती है। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। दशरूपकम्

नाटक – दशरूपककार धनंजय ने रूपकों का वर्णन करते हुये नाटक को सभी रूपकों का मूल कहा है। नाटक सभी रसों का आश्रय लिया जाता है। इसमें सर्वप्रथम रंगमंच पर सूत्रधार आता है जो दर्शकों को नाटक के विषय में परिचय देकर चला जाता है, उसके बाद उसी जैसा कोई अन्य व्यक्ति या नट प्रवेश करके काव्य की स्थापना करता है अर्थात् वह रंगमंच पर किसी नाटक आदि के अभिनय का प्रबन्ध करता है। स्थापक के रूप में वह सम्पूर्ण कथावस्तु की सूचना देता है। यह सूचनपा यदि देवता संबंधी है तो देव रूप में होकर तथा मानव संबंधी है तो मानव रूप में होकर और मिश्रित कथावस्तु को वह देव या मानव में से किसी एक रूप में होकर सूचित करता है।

नाटक की कथावस्तु इतिहास, पुराण प्रसिद्ध होना चाहिये। कम से कम ५ और अधिक से अधिक १० अंक होने चाहिये। नायक धीरोदात्त, शांत, प्रख्यात होना चाहिये। वीर या श्रृंगार में से कोई एक रस मुख्य होना चाहिये।

प्रकरण – प्रकरण में लोक स्तर का कविकल्पित कथावस्तु या इतिवृत्त तथा अमात्य, ब्राह्मण और वणिक में से कोई एक नायक होना चाहिये जो धीर प्रशांत हो एवं धर्म, अर्थ और काम में तत्पर हो, किन्तु उसकी कार्य सिद्धि में विघ्र उपस्थित हो।

इसमें श्रृंगार रस प्रधान होता है। कम से कम ५ और अधिक से अधिक १० अंक होना चाहिये। कथावस्तु कल्पित, पाँच सन्धियाँ, नायक धीर प्रशांत, अमात्य, विप्र या वणिक में कोई एक, नायिका कुलीन या वेश्या, रस श्रृंगार अंक ५ से लेकर १० तक होते हैं।

अंक – अंक इतिहास प्रसिद्ध इतिवृत्त को कवि द्वारा विस्तृत कर लेना चाहिये। मुख्य अंगी रस करुण है। नायक साधारण जन होता है। एक अंक होता है। यह स्त्रियों के विलाप से युक्त होता है। इसमें वाग्युद्ध का वर्णन होता है।

कर्पूरमञ्जरी

कवि परिचय – कर्पूरमञ्जरी के रचयिता यायावर वंशीय राजशेखर है। तिलक मञ्जरी और उदयसुंदरी में उन्हें यायावर या यायावर कवि कहा गया है। कवि के पिता का नाम दुर्दुक और माता का नाम शीलवती था। अनके पितामह महाराष्ट्र चूडामणि अकाल जलद थे। उसके वंश में सुरानंद, तरल और कविराज जैसे यशस्वी कवि हुये हैं। उनका विवाह चाहमान (चौहान) जाति की अवन्तिसुंदरी नामक एक सुशिक्षित महिला के साथ हुआ था। इस कारण से कतिपय विद्वान् इन्हें क्षत्रिय और कतिपय विद्वान् इन्हें ब्राह्मण मानते थे।

राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी में अपने में संबंध में बालकवि, कविराज एवं सर्वभाषाचतुर आदि विशेषणों का उपयोग किया है। कवि ने अपने आपको निर्भयराज (महेन्द्रपाल) का गुरु बतलाया है। कवि धनार्जन की इच्छा से कन्नौज गये थे, कान्यकुब्जनरेश महेन्द्रपाल ही इनका शिष्य था। इन्होंने अपने आपको बाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ तथा भवभूति का अवतार माना है।

इनका काल ई. ९०० है। इन्होंने कर्पूरमञ्जरी, विद्वशालभंजिका, बालरामायण और बालभारत ये चार नाटक लिखे हैं। काव्यमीमांसा नामक एक अलंकार ग्रन्थ भी लिखा है। काव्यमीमांसा में इन्होंने भुवनकोश नामक एक भौगोलिक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।

कर्पूरमञ्जरी का परिचय एवं कथावस्तु – यह महाराष्ट्री प्राकृत में विरचित चार यवनिकांतर का एक सट्टक है। इनका कथानक हर्षवद्र्धन विरचित नाटिका रत्नावली के समान है। इसमें राजा चण्डपाल और कुंतल राजकुमारी कर्पूरमंजरी की प्रणय कथा वर्णित है। इसमें कुल १४४ गाथायें हैं, जिनमें १७ प्रकार के छंद प्रयुक्त हुये हैं, इनमें शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, स्त्रग्धरा आदि प्रधान है। गीतिसौन्दर्य जगह-जगरह दिखाई देता है।

कथावस्तु – प्रस्तावना के अनंतर राजा चन्द्रपाल, रानी विभ्रमलेखा, विदूषक और अन्य सेवक रंगमंच पर आते हैं। इस अवसर पर विदूषक और विचक्षणा में बसंत वर्णन की क्षमता पर झगड़ा हो जाता है। विदूषक नाराज होकर वहाँ से चला जाता है। और भैरवानंद नामक अद्भुत सिद्धयोगी को साथ लेकर आता है। राजा उससे कोई आश्चर्य दिखाने का अनुरोध करते हैं। भैरवानंद विदर्भनगर की राजकुमारी को अपनी योगशक्ति से सबसके सामने ला दिखाता है। राजा उसके सौन्दर्य को देखकर उस पर मुग्ध हो जाते हैं। राजा उसकी याद में विह्वल रहने लगा। कर्पूरमंजरी रानी विभ्रमलेखा की मौसी शशिप्रभा की पुत्री है। वहाँ कर्पूरमञ्जरी की भी राजा के वियोग में दीन दशा हो गई। दोनों को मिलने-मिलाने के कई प्रयास विदूषक और विचक्षणा द्वार किये जाते हैं। रानी विभ्रमलेखा को पता चल जाता है तो वह ककर्पूरमञ्जरी को राजा से

मिलने से रोकती है। राजा को चक्रवर्ती बनने के लिये घनसारमंजरी से विवाह करना होगा ऐसा ज्योतिषियों ने बताया है। अन्त में राजा का विवाह घनसारमंजरी से करा दिया जाता है और अन्त में भेद खुल जाता है।

समीक्षा – सट्टककार राजशेखर ने संस्कृत को छोडक़र प्राकृत में अपने ग्रन्थ की रचना की है–

परुसा सक्कअबंधा पाउसबंधो वि होई सुउमारो।

पुरिसमहिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाणं।।[29]

संस्कृत का गठन परुष और प्राकृत का गठन सुकुमार है। पुरुष और महिलाओं में जितना अंतर होता है उतना ही अंतर संस्कृत और प्राकृत काव्य में समझना चाहिये।

विदूषक पूछता है – यह प्रेम क्या है ? राजा उत्तर देता है –

जस्सि विअप्प-घइणाइ-कलंकमुक्को,

अत्ताण-अस्स सरलत्तणमेइ भावो।

एक्केक्क-अस्स पसरन्त-रसप्प-वाहो,

सिंगार-बड्ढिअ-मणोहव-दिण्णसारो।।[30]

जिसमें मन का आंतरिक भाव सरलता को प्राप्त होता है, जो विकल्पों के संघटन आदि और कलंक से मुक्त है, जिसमें एक दूसरे के लिये रस का प्रवाह बहता है, श्रृंगार द्वारा जो वृद्धि को प्राप्त होता है और मनोभव कामदेव से जिसका सार प्राप्त होता है वह प्रेम है।

विशेष – इस सट्टक में चर्चरी नामक नृत्य का भी प्रयोग किया है, जिसमें हाव-भाव का प्रधान स्थान है।

झूले के दृश्य का वर्णन दर्शनीय है –

विच्छावन्तो णअर-रमणी-मंडलस्साणणाइं,

विच्छालेन्तो गअण-कुहरं कन्ति-जोण्हा-जलेण।

पेच्छन्तीणं हिअअ-णिहिदं णिद्दलन्तो-अ दप्पं

दोला-लीला-सरल-तरलो दोसदे से मुहेन्दू।।[31]

प्रत्येक रमणी के मुखारविंद को फीका करता हुआ, अपने रूपलावण्य की द्रवीभूत चन्द्रिका से गगनमण्डल को तरंगित करता हुआ, अन्य युवतियों के अभिमान को दलित करता हुआ चन्द्रमा के समान उसका मुखमण्डल दिखाई देता है, जब कि वह झूलती हुई सीधे आगे-पीछे झोंके लेती है।

नारी सौन्दर्य के चित्रण दर्शनीय है -

अंगं लावण्ण-पुण्णं सवरण-परिसरे लोअणे फारतारे

वच्छं थोरत्थ-णिल्लं तिबलि-वलइअं मु गेज्झं च मज्झं।

चक्काआरो निअम्बो तरुणिमसमए किं णु अण्णेण कजजं

पञ्चेहिं चेअ बाला मअणजअ-महावेजअन्तीअ होन्ति।।

युवावस्था में सुंदरियों का शरीर लावणय से भरपूर हो जाता है आँखें भी आकष्ज्ञक और बड़ी लगने लगती है, वक्षःस्थल पर स्तन खूब उभर आते हैं, कमर पतली हो जाती है, तथा उस पर त्रिवलियाँ पड़ जाती है। नितम्ब भाग खूब सुडौल और गोल हो जाता है। इन पाँच अंगों से ही बालायें कामदेव की विजय में पताका का काम करती है- सबसे आगे रहती है, किसी और की आवश्यकता ही क्या है ?

समीक्षा - श्रृंगारिक चेष्टाओं के प्राधान्य, नाटकीय संविधान और कथानक की शिथिलता को लेकर प्रायः कर्पूरमंजरी की आलोचना की जाती है। जैसे -

- चरित्र-चित्रण की दृष्टि से देवी में वासवदत्ता जैसी महानुभावता एवं ईष्र्याभाव का विकास नहीं है। राजा में उदयन जैसा प्रेम हृदय नहीं है। वह एक प्रेमी की अपेक्षा कविता प्रेमी अधिक है।
- कथानक कई स्थानों में अपर्याप्त है। जैसे - स्नानयुक्त गृह में नायिका के अचानक गायब हो जाने पर भी उसके माता-पिता को कोई चिंता नहीं होती है। शादीद के समय में भी न तो उनकी उपस्थिति और न स्वीकृति है।
- कथनोपकथन में भी कहीं-कहीं असंगति है। जैसे - विदूषक जो कान्तारंजनयोग्य साधारण कविता करता है वह द्वितीय जवनिकान्तर में दोलावर्णन के प्रसंग में विस्तारपूर्वक सुंदर कवर्णनकरता है जो विदूषक जैसे व्यक्ति से संभव नहीं है।
- श्रृंगार के भद्दे प्रदर्शन से उसकी व्यंग्यता समाप्त हो गई है। इस तरह कुछ दोष प्राकृत सट्टक के फिज्ीमीकथानक पर लगाये जाते हैं। इन आलोचनाओं का प्रमुख आधार है - रत्नावली नाटिका। कहा गया है - लिली के फूल को इसलिये बेकार नहीं माना जा सकता है कि वह गुलाब नहीं है।

प्रकृति चित्रण – कर्पूरमंजरी में मुख्यरूप से अंतःपुर की प्रणयलीला का चित्रण होने से यद्यपि प्रकृतिवर्णन का उन्मुक्त वातावरण नहीं है। फिर भी प्रेमव्यापार में उद्दीपन विभाव के रूप में उसका पर्याप्त चित्रण हुआ है। प्रकृत सट्टक में वस्न्त ऋतु, ग्रीष्मऋतु, चंद्रोदय, सूर्यास्त, संन्ध्या तथा उपवन के वृक्षों के विकास का चित्रण हुआ है। महाकवि राजशेखर एक प्रकृतिप्रेमी कवि है। जिससे इन्होंने अपनी कल्पना शक्ति से इस दृश्य को कहीं-कहीं प्रकृति चित्रण सा बना दियाह है। ऋतुओं में वसन्त और ग्रीष्मऋतु का वर्णन है।

ग्रीष्मऋतु वर्णन – ग्रीष्मऋतु स्वयं दाहजनक तो होती है। यदि प्रियजन का वियोग हो तो वह कामियों को और भी अधिक संतापदायिनी हो जाती है। इस संदर्भ में राजा का कथन है –

इह-कुसुमसरेक्क-गोअराणं इहमुहअं पि हु दूसहंति मण्णे।

जरढरइ-करालिओ अ कालो सह अ जणेण पियेण विप्पलंभो।।

यही ग्रीष्मऋतु जब प्रियजन से सुयुक्त होती है तो कामीजनों के लिये सहज शीतल हो जाती है। तथा ग्रीष्म के बड़े भी दिन सहज ही गुजर जाते हैं। प्रियजन का वियोग होने पर दिन मासोपम हो जाते हैं। प्रचण्डताप से युक्त दिनों के लंबे और रात्रियों के अल्पस्थायी होने कामीजन बहुत दुःखी होते हैं।

काव्य सौन्दर्य – कवि का काव्य प्रेम इतना अधिक है कि वह अपनी विरहिणी प्रियतमा का प्रेमपत्र पाकर भी इउकसे प्रति उद्विग्र न होकर कविता की प्रशंसा करता है। पदे-पदे काव्य रचना में अधिक रूझाान है। काव्य में मनोरमा वर्णयोजना और शब्दों के उत्कृष्ट चयन के साथ गेयरूपता, पदलालित्य एवं अनुप्रास की छटा दर्शनीय है।

भाषा – राजशेखर ने संपूर्ण नाटक को संस्कृत में न लिखकर सर्वप्रथम प्राकृत में निबद्धकर अभिनव प्रयोग किया है। इस संदर्भ में उन्होंने स्पष्ट कहा है –

परुसा सक्कअबंधा पाउसबंधो वि होई सुउमारो।

पुरिसमहिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाणं।।[32]

संस्कृत का गठन परुष और प्राकृत का गठन सुकुमार है। पुरुष और महिलाओं में जितना अंतर होता है उतना ही अंतर संस्कृत और प्राकृत काव्य में समझना चाहिये।

सामान्यरूपेण इसे शौरसेनी प्राकृत में लिखा गया नाटक माना जाता है। इतना विशेष है कि पद्यभाग में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग अधिक हुआ है।

चरित्र

राजा – चन्द्रपाल – नायक

भैरवानंद – योगीश्वर –

विदूषक – कपिंजल ब्राह्मण – राजा का मित्र

प्रतिहारी – सेवक

वैतालिक – रत्नचण्ड और काञ्चनचंड

शुक – पक्षी

देवी – विभ्रमलेखी, महिषी

कर्पूरमंजरी – विदर्भ राजकुमारी, कुंतलाधिप सुता, नायिका

घनसारमंजरी – कर्पूरमंजरी का दूसरा नाम, लाटदेश के राजा की पुत्री

विचक्षणा – दासी, कर्पूरमंजरी सखी।

सारङ्गिका – देवी की परिचायिका।

सुलक्षणा – विचक्षणा की बहिन।

कथासार –

प्रथम जवनिका – वसन्तोत्सव, विदूषक-विचक्षणा में झगड़ा, योगीश्वर भैरवानंद का आगमन, कर्पूरमंजरी का आगमन तथा उसका सौन्दर्यवर्णन, राजा का पूर्वानुराग, कर्पूरमंजरी का रानी विभ्रमलेखा के साथ जाना, संध्या वर्णन।

द्वितीय जवनिका – राजा का विरह संताप, विचक्षणा विदूषक का मेल, कर्पूरमंजरी की विरह वेदना का सूचक प्रेमपत्र, कर्पूरमंजरी का श्रृंगार, झूलोत्सव, वृक्षों का दोहदकर्म, कर्पूमंजरी द्वारा दोहदकर्म कराये जाने का रहस्योद्घाटन , संध्या वर्णन।

तृतीय जवनिका – राजा का स्वप्रदर्शन तथा विदूषक का प्रतिस्वप्र वर्णन, प्रेम आदि के स्वरूप की चर्चा, कर्पूरमंजरी से राजा का मिलन, चंद्रोदय वर्णन, देवी को राजा के प्रणय-व्यापार की खबर मिलना, सुरंगद्वार से कर्पूरमंजरी का रक्षागृह में गमन।

चतुर्थ जवनिका – ग्रीष्मऋतु वर्णन तथा विरहताप की तीव्रता, कर्पूरमंजरी का कारावास , वटसावित्री के महोत्सव में चर्चरी आदि विविध नृत्यों का वर्णन, राजा का घनसारमंजरी से विवाह, चक्रवर्ती पद की प्राप्ति, भरतवाक्य।

विलासवती

विलासवती प्राकृतसर्वस्व के रचयिता मार्कण्डेय (ईसवी सन् की लगभग १७वीं शताब्दी) की कृति है। यह कृति अनुपलब्ध है। मार्कण्डेय ने अपने प्राकृतसर्वस्व ५/१३१ विलासवती की निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है –

पाणाअ गओ भमरो लब्भइ दुक्खं गइंदेसु।

सुहाअ रज्ज किर होइ रण्णो।।

चन्दलेहा

कवि परिचय– इसके रचनाकार पारशव वंश के कवि रुद्रदास है। इस सट्टक की रचना १६६० में हुई। इसका नायक मानवेद कवि का समकालीन प्रतीत होता है। इसमें चार जवनिकांतर है। इसमें मानवेद और चन्द्रलेखा के विवाह का वर्णन है। कर्पूरमंजरी की तरह कथावस्तु का गठन है। ओजपूर्ण शैली है। श्रृंगाररस की प्रधानता है। इस सट्टक पर संस्कृत भाषा का प्रभाव रहा है। इसकी भाषा वररुचि के प्राकृतप्रकाश सम्मत महाराष्ट्री है। इसमें गद्य का प्रयोग बहुत ही प्रौढ़ है। इसमें गीति, पृथ्वी, वसन्ततिलका, स्त्रग्धरा आदि १५ छन्दों का प्रयोग किया गया है।

कथावस्तु – बसन्त का आगमन हो गया है। राजा मानवेद चक्रवर्ती होने की चिंता में मग्र है। राजा के सिन्धुनाथ का मंत्री सुमति, सुश्रुत के साथ आता है। वह राजा को कामनापूर्ति चिंतामणि रत्न देता है। राजा उससे विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी को माँगता है। जैसे ही वह स्त्री उपस्थित होती है वह उस पर मोहित हो जाता है, वह स्त्री भी उस राजा पर मोहित हो जाती है। रानी उसको अन्तःपुर ले जाती है। राजा उसके वियोग विह्वल हो जाता है। विदूषक के माध्यम से दोनों का मिलना हो जाता है परन्तु रानी को यह बात चल जाती है। उसी समय रानी का मौसेरा भाई चन्द्रकेतु वहाँ आता है और कहता है कि मेरी बहिन चन्द्रलेखा गायब हो गई है। रानी यह सुनकर दुःखी हो जाती है। राजा चिंतामणि रत्न से चन्द्रलेखा उसके समक्ष उपस्थित कर देता है। अधिष्ठाता देव घोषणा करता है कि चन्द्रलेखा से विवाह करने वाला चक्रवर्ती होगा। राजा का चन्द्रलेखा से विवाह हो जाता है।

समीक्षा – प्रमुख संवाद –

क राजा और विदुषक संवाद

क नक्तमालिका और तमालिका संवाद

क चन्दनिका और चन्द्रिका संवाद

नगर की शोभा का वर्णन –

तारुण्णएण रभणि व्व सुरूव-रम्मा, जोण्हा-रसेण रअणि व्व फुंरत-चंदा।

फुल्लुग्गमेण लदिअ व्व पवाल-पुण्णा, रेहेइ हंत णअरोमहु-संगमेणं।।[33]

युवावस्था से जिस प्रकार रमणी सुशोभित होती है, ज्योत्स्ना से जिस प्रकार रजनी सुशोभित होती है और विकसित पुष्प तथा दलावलि से युक्त जिस प्रकार लता सुशोभित होती है,ख् उसी प्रकार बसन्त आगमन से यह नगरी सुशोभित हो रही है।

नारी सौन्दर्य का वर्णन-

णेत्तं कंदोट्ट-मित्तं अहर-मणि-सिरि बंधुजीए-क्कबंधू

वाणी पीऊस-वेणी णव-पुलिण-अल-त्थोर-बिंबो णिअंबो।

गत्तं लाअण्णं-सोत्तं घण-सहिण-भरच्चंत-दुज्झंत-मज्झं

उत्तेहिं किं बहूहिं जिंणइ मह चिरा जम्म-फुल्लं फलिल्लं।।[34]

उसके नीलकमल के समान नेत्र है, बन्धुक पुष्प के समान अधर-मणि है, पीयूषवेणी के समान वाणी है, नवपुलिततल के समान स्थूल नितम्ब है। वक्षःस्थल पर उभरे हुये कुचद्वय है, कमर क्षीण है। अधिक क्या कहा जाए, उसका जन्म मेरे लिये उसी तरह है, जिस प्रकार पुष्प से फल की उत्पत्ति होती है।

चन्द्रमा वर्णन –

चंदण-चच्चिअ-सव्व-दिसंतो, चारु-चओर-सुहाइ कुणंतो।

दीह-पसारिअ-दीहिइ-बुंदो, दीसइ दिण्ण-रसो णव-चंदो।।[35]

समस्त दिशाओं को चंदन से चर्चित करता हुआ, सुंदर चकोर पक्षियों का सुख प्रदान करता हुआ, अपनी किरणों के समूह को दूर तक प्रसारित करता हुआ सरस नूतन चन्द्रमा दिखाई दे रहा है।

सट्टक की परिभाषा –

सो सट्टओ सहअरो किल णाडि आए, ताए चउज्जवणिअंतर-बंधु रंगो।

चित्तत्थ-सुत्तिअ-रसो परमेक्क-भासो, विक्खंभ आदि-रहिओ कहिओ बुहेहि।। [36]

सट्टक नायिका का सहचर होता है, उसमें चार यवनिकांतर होते हैं, विविध अर्थ और रस से वह युक्त होता है, उसमें एक ही भाषा बोली जाती है, और विष्कंभ आदि नहीं होते हैं।

रंभामञ्जरी

कवि परिचय – यह सट्टक कर्पूरमञ्जरी से लेकर लिखा गया है। इसके कर्ता प्रसन्नचन्द के शिष्य नयचन्द्र है। इन्होंने छह भाषाओं में कविताओं की रचना की। इनका मानना था कि इनकी रचनाकौशल में अमरचन्द्र का पद-लालित्य और श्रीहर्ष का व्यंग्योक्ति विद्यमान है। इन्होंने हम्मीर महाकाव्य की रचना की एवं अनेक जैनस्तोत्रग्रन्थादि की भी रचना की। इनका समय चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इनका कहना है कि कर्पूरमञ्जरी से रम्भा की उत्पत्ति नहीं होती है, अपितु रम्भा से ही कर्पूरमंजरी की उत्पत्ति होती है।

कथावस्तु – इसमें तीन जवनिकायें है। इसमें वाराणसी के राजा जैत्रचन्द्र और लाटनरेश की पौत्री रम्भा के प्रणय-व्यापार का वर्णन है। इन दोनों का परस्पर विवाह हो जाता है।

पात्र –

राजा – जैत्रचन्द्र। सूत्रधार- नटी। विदूषक। कर्पूरिका। रोहक। मल्लदेव – जैत्रचन्द्र के पिता। चन्द्रलेखा – जैत्रचन्द्र की माता। राजा की प्रधान महिषी – वसन्तसेना। लाटनरेश राजा देवराज की पुत्री रम्भा।

राजा जैत्रचन्द्र की सात पत्नियाँ है और वह आठवीं रम्भा से विवाह करना चाहता है। राजा और रम्भा परस्पर मदनज्वर से पीड़ित है। रम्भा और राजा का विवाह हो जाता है। प्रधान महिषी को यह बात चल जाती है, वह दोनों के मिलन में बाधक बनती है। बाद में बसन्तसेना दोनों को मिलने का अवसर प्रदान करती है।

समीक्षा –

- यह सट्टक अधूरा जान पड़ता है।
- प्रथम दृष्टया इसमें चार के स्थान पर तीन जवनिकायें है।
- कर्पूरमंजरी के स्तर की रचना नहीं है।

- सात रानियों के होने के उपरान्त भी आठवां विवाह, वह भी उस स्थिति में जबकि रंभा विवाहित थी।
- उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो पा रहा है।
- कथा मौलिक है, पर रोचक नहीं है।
- वर्णन-प्रसंग रसभाव से युक्त है।

कवि ने वसन्तागमन के अवसर पर विरहिणी की दशा का चित्रण करते हुये लिखा है -

मयंको संघको मलयपवणा देहतवणा

कहू सद्दो रुद्दो सुमसरसरा जीविदहरा।

वराइयं राई उवजणइ णिद्दपि ण खणं

कहं हा जीविस्से इह विरहिया दूर पहिया।।[37]

वसन्तागमन के समय जिसका पति विदेश गया हुआ है, वह विरहिणी कैसे जीवित रहेगी ? उसे मृगांक-चन्द्र शर्पाङ्ग के समान प्रतीत होता है, शीतल मलयानिल देह को संतपत हकरता है। कोकिल की कूक रौद्र मालूम होती है कामदेव के बाण जीवन को अपहरण करने वाले जान पड़ते हैं। बेचारी विरहिणी को रात्रि में एक क्षण के लिये भी नींद नहीं आती है।

चन्द्रोदय का वर्णन -

तमभरप्पसराण निरोहगो, विरहिणीविरहग्गिविबोहगो।

ससहरो गयणम्मि समुद्दिदो, सहि णकस्स मणस्स विणोयगो।।[38]

रानी चन्द्रमा को उदित देखकर सखी से कहती है कि हे सखी! आकाश में चन्द्रमा उदित हो गया है। यह किस प्राणी के मन को अनुरंकजित नहीं करता है। यह अंधकार को दूर करने वाला और विरहिणी नायिकाओं की विरहाग्नि को प्रज्वलित करने वाला है।

कवि नायिका के अंगों में सौन्दर्य जन्य विषमता को देखकर कल्पना करता है कि इस नायिका का निर्माण एक विधाता ने नहीं किया है, अपितु अनेक विधाताओं ने मिलकर किया है। यदि एक विधाता निर्माण करता तो यह अनेकरूपता या विषमता किस प्रकार उत्पन्न होती ?

बाहू जेण मिणाल-कोमलयरे तेणं न घट्टा थणा।

दि जेण तरंग-भंगतरला तेण न मंदा गई।।

मज्झं जेण कियं न तेण घडियं थोरं नियंबत्थलं।

एयाए विहिणा वि तन्न घडिदा एगेण मन्ने तणू।।[39]

जिस विधाता ने इसकी मृणाल के समान कोमल बाहुओं को बनाया है, वह इसके कठोर स्तनों को नही बना सकता है। अतः बाहुओं का निर्माता पृथक् विधाता है और कठोर स्तनों का विधाता अलग है। जिसने इसकी चंचल दृष्टि बनायाी है वह मंद गति इसे नहीं बना सकता। जिसने इसकी कमर को क्षीण बनाया है वह इसके नितम्बों को स्थूल नहीं बना सकता। इस नायिका का निर्माण एक विधाता ने नहीं किया है, अपितु अनेक विधाताओं ने मिलकर किया है।

आनंदमञ्जरी

कवि परिचय - इसकी कथावस्तु का गठन कर्पूरमंजरी के आधार पर नहीं हुआ है। यह इससे भिन्न प्राकृत का मौलिक सट्टक है। इसके रचयिता महाराष्ट्रचूडामणि कवि घनश्याम है। इनके पिता महादेव और माता काशी थी। इनका जन्म १७०० में हुआ एवं १७५० ई सन् तक जीवित रहे। इनको सार्वजनिक कवि, कवि कंठीरव एवं चौडाजि कवि आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। इन्होंने ६४ संस्कृत में, २० प्राकृत में एवं २५ रचनायें देशी भाषाओं में की। इनके तीन सट्टक है - वैकुण्डचरित, आनंदमंजरी और एक अन्य। मात्र आनंदमंजरी ही उपलब्ध है। मराठी भाषा का इस सट्टक पर प्रभाव रहा है तभी तो अनेक स्थानों पर मराठी के शब्द और धातुयें देखने को मिलती है। इस पर भट्टनाथ के द्वारा संस्कृत व्याख्या लिखी गई।

कथावस्तु - राजा शिखण्डचन्द्र गुणी और प्रतापी है। अंगराज की कन्या आनंदसुंदरी राजा के गुणों से आकृष्ट होती है, वह अपने पिता से आज्ञा लेकर उससे मिलने के लिये चल देती है। वह वहाँ पर पुरुष के वेष में पिंगलक नाम से निवास करने लगती है। एक बार राजा नाटक देखने की इच्छा व्यक्त करता है। उस नाटक को देखने के लिये पिंगलक और मंदारक भी आते हैं। वहीं राजा पिंगलक के रूप में आनंदमंजरी को देखते हैं और उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं, उससे विवाह करने के लिये आतुर हो जाते हैं। जब रानी को यह बात पता चलती है तो वह रुष्ट होती है, राजा रानी को समझा लेता है। और रानी आनंदमंजरी से विवाह की अनुमति दे देती है। दोनों का विवाह हो जाता है। जैसा कि ज्योतिषियों ने घोषणा की थी एक सुंदर पुत्र होगा। दोनों से एक सुंदर पुत्र होता है। भाट मंगल-प्रशस्ति का गायन करते हैं।

समीक्षा - आनंदमंजरी को राजा को समर्पित करते समय धात्री की उक्ति -

जम्मणो पहुदि वड्ढिदा मए, लालणेहि विविहेहि कण्णआ।

संपदं तुह करे समप्पिआ, से पिओ गुरुअणो सही तुमं।।[40]

जन्म से विविध लालन-पालन के द्वारा जिस कन्या को मैंने बड़ा किया, उसे अब मैं तुम्हारे हाथ सौंप रही हूँ, अब तुम इसके प्रिय, गुरुजन और सखी सभी कुछ हो।

स्पर्श सुख की शीतलता और मनोहारिता का वर्णन -

ससिअर-पझरंत-चंदकंतो, चणअ-हिमंबु विहिट्ट चंदणं वा।

सुरउल-पडिदो सुहारसो कि, पिअ-जण-फंस-वसा ण होइ एव्वं।।[41]

यह हस्तस्पर्श ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे चन्द्रमा की किरणों से चन्द्रकान्त मणि द्रवित हो रहा हो, चने के पौधों में शीतल ओसबिन्दु ही वर्तमान हो अथवा चंदन का लेप किया गया हो। क्या यह स्वर्ग से च्युत हुई अमृत की धारा तो नही है। अर्थात् हस्तस्पर्श की शीतलता संसार की समस्त वस्तुओं की शीतलता की अपेक्षा उत्कृष्ट है।

राजा के वियोग का मार्मिक वर्णन -

अच्चुण्हा मे पिहुल-पिहुला होंति णीसा-सादण्डा,

जीहा सुक्खा सलिल-कलिलं लोअणं तत्तमंगं।

कप्पाआमं वजइ णिमिसो कण्ठ-णालो सिढिल्लो,

दोहा मोहा ण रुचइ जगो हंत तीए विओए।। [42]

राजा विरहवेदना पीड़ित होकर विदूषक से कहता है कि -मदन ज्वर का तीव्र संतपाप बढ़ जाने से महिती वेदना हो रही है, गर्म-गर्म लंबी-लंबी सासें आ रही है, जिह्वा सूख रही है, आँखों में ऑसू भरे हुये हैं और शरीरी तप रहा है। एक-एक क्षण कल्पकाल के समान व्यतीत हो रहा है। उसके वियोग में मच्छा बढ़ रही है और कुछ भी अच्दा नहीं लगता है। इस प्रकार काव्य कला की दृष्अि से यह सट्टक उत्तम है।

श्रृंगारमञ्जरी

कवि परिचय - इसके रचयिता कवि विश्वेश्वर है। प्राकृत साहित्य का यह द्वितीय सट्टक है। ये लक्ष्मीधर के पुत्र एवं शिष्य थे। ये अलमोड़ा के निवासी थे। इनका जन्म अठारहवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में हुआ था। मात्र दस वर्ष की अल्प वय में उन्होंने लिखना प्रारंभ कर दिया था। नवमालिका नाम की नाटिका और श्रृंगारमंजरी इन्होंने अल्पवय में लिख डाली। इन्होंने अपनी चालीस वर्ष के जीवन में बीस से अधिक ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

कथावस्तु – यह सट्टक कथावस्तु की अपेक्षा बहुत ही रोचक है। राजा राजशेखर स्वप्न में एक सुंदरी को देखने के बाद विरह से व्याकुल हो जाता है। देवी रूपरेखा की दासी वसन्ततिलका उसे चित्र बनाने को कहती है, चित्र देखकर वह कहती है यह तो मेरी सखी है और आपके लिये विह्वल है। देवी राजा को मदनपूजा पर बुलाती है। इधर उद्यान में बसन्ततिलका और श्रृंगारमंजरी का झगड़ा हो जाता है, जो कि राजा ही उस झगड़े का निपटारा करते हैं, उसी दौरान वे श्रृंगारमंजरी को देखते हैं।

महारानी को दोनों के प्रणय-व्यापार को जान लेती है। सपत्नी-ईष्र्या वश वह उसको बंदी बना लेती है। मंदिर में पूजा के दौरान दिव्यवाणी सुनाई देती है कि तुम राजा के प्रति कत्र्तव्य का पालन करो। वह संकेत समझ जाती है। वह श्रृंगारमंजरी को मुक्त कर राजा से विवाह करा देती है। बाद में भेद खुल जाता है कि श्रृंगारमंजरी अवन्तिराज जटाकेतु की पुत्री है।

समीक्षा – इस सट्टक में भास की वासवदत्ता और श्रीहर्ष की रत्नावली क पूरा प्रभाव है। भाषाशैली प्रसादगुण सम्पन्न है। संवादों में वसन्ततिलका और श्रृंगारमंजरी विदूषक और राजा, राजा एवं महादेवी के संवाद उल्लेख है। इनमें दृश्यकाव्य के सभी गुण पाये जाते हैं।

प्राकृत चरितकाव्य

प्राकृत साहित्य का प्रादुर्भाव धार्मिक क्रान्ति से हुआ है। इस साहित्य में भी लौकिक साहित्य के निम्र बीज वर्तमान है, जिनके आधार प्रबन्धात्मक काव्य एवं कथा साहित्य के विकास की परम्परा स्थापित की जा सकती है।

- धार्मिक भावों के स्पष्टीकरण के लिये रूपक और उपमाओं के प्रयोग।
- कथात्मक आख्यान
- संवाद-प्रश्नोत्तर के रूप में कथनोपकथनों की श्रृंखला
- उपदेशात्मक या नीति संबंधी गद्य-पद्य
- छन्दों की अनेकरूपता
- प्रसंगवश अलंकृत वर्णन
- वंश और जातियों के संकेत
- आचार-दर्शन एवं प्राकृतिक वस्तुओं के इतिवृत्त
- साधनाओं के उदाहरण

संस्कृत के चरित काव्यों का मूलस्रोत जिस प्रकार वेद है, प्राकृत के चरित काव्यों का मूलस्रोत उसी प्रकार आगम साहित्य है। वस्तुतः चरित काव्य प्रबंध की ही एक रूप योजना है। जहाँ पात्र पौराणिक-ऐतिहासिक है और कालक्रम के तिथिगत एवं तथ्यगत ब्यौरों से पुष्ट है, वहाँ भी प्रसंगों की उद्भावना और मनोभावों की व्यंजना के चलते ही वे चरितकाव्य के विषय बनते हैं। चरितकाव्य का नायक मोक्ष पुरुषार्थ को प्राप्त करने का प्रयास करता है। चरितकाव्यों में प्रबंध के अनेक रूप दिखलायी पड़ते हैं। यहाँ कुछ प्रबन्ध प्रारूपों का विवेचन किया जाता है -

- मन:प्रधान प्रबन्ध
- चेतना प्रधान
- जीव परक
- जगत परक

१. पउमचरियं

चरित काव्य का नाम - पउमचरियं (प्राकृत का प्रथम चरित काव्य है)

रचयिता - विमलसूरि

समय - 3-४ शती

सर्ग - ११८

उपजीव्य - रामायण

कथावस्तु - राम के चरित का वर्णन।

छन्द - वसन्ततिलका, मालिनी, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रुचिरा, शार्दूलविक्रीडित।

अलंकार - उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, श£ेष आदि। प्राकृत - महाराष्ट्री, कहीं-कहीं अपभ्रंश का प्रयोग।

२. सुरसुंदरी चरियं

चरित काव्य का नाम – सुरसुंदरी चरियं (एक प्रेमाख्यान है)

रचयिता – धनेश्वर सूरि

समय – २०१*८

सर्ग – १६ परिच्छेद, प्रत्येक परिच्छेद में २५० पद्य

पद्य – ४००१

उपजीव्य – रामायण

कथावस्तु – सुरसुंदरी और मकरकेतु के चरित का वर्णन।

अलंकार – उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा,

प्राकृत – महाराष्ट्री, अपभ्रंश का प्रभाव।

रस – वीर रस के साथ बीभत्स रस।

३. सुपासनाहचरियं

चरित काव्य का नाम – सुपासनाहचरियं

रचयिता – लक्षणगणि

समय – ११९९

सर्ग – तीन भाग

पद्य – ८०००

उपजीव्य – हरिभद्र की समराइच्चकहा का चण्डियाययणं

कथावस्तु – काव्य के नायक सातवें तीर्थंकर सुपाश्वनाथ है।

अलंकार – उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा,

प्राकृत – महाराष्ट्री, अपभ्रंश का पूरा प्रभाव।

४. सिरिविजयचंद केवलिचरियं

चरित काव्य का नाम – सिरिविजयचंद केवलियचरियं

रचयिता – चन्द्रप्रभ महत्तर

समय – 1127

पद्य – 1063

कथावस्तु – जिनपूजा का माहात्म्य प्रकट करना।

अलंकार – उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास,

प्राकृत – महाराष्ट्री, यत्र-तत्र अर्धमागधी का प्रभाव।

५. महावीरचरियं

चरित काव्य का नाम – महावीरचरियं

रचयिता – नेमिचन्द्र सूरि

समय – 1141

पद्य – 2385

कथावस्तु – भगवान महावीर स्वामी का चरित्र चित्रण।

अलंकार – उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास,

प्राकृत – महाराष्ट्री, यत्र-तत्र अर्धमागधी का प्रभाव।

६. सुदंसणाचरियं

चरित काव्य का नाम – सुदंसणाचरियं

रचयिता – देवेन्द्रसूरि

समय – १२७०

सर्ग – ८ अधिकार और १६ उद्देश्य

पद्य – ४०००

उपजीव्य – शैली –

कथावस्तु – नायिका सुदर्शना का चरित्र।

अलंकार – उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास,

प्राकृत – महाराष्ट्री, अपभ्रंश और संस्कृत। बीच-बीच में संस्कृत के श£ोक।

७. कुम्मापुत्त चरियं

चरित काव्य का नाम – सिरिविजयचंद केवलियचरियं

रचयिता – अनंतहंस

समय – १६वीं शती

पद्य – १९८

शैली – शैली और भाषा प्रौढ़ है।

कथावस्तु – राजा महेन्द्रसिंह और रानी कूर्मा के पुत्र धर्मदेव के पूर्वजन्मों एवं वर्तमान जन्म की कथावस्तु वर्णित है।

अलंकार – उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास,

प्राकृत – महाराष्ट्री, अपभं्रश और संस्कृत का प्रभाव, संस्कृत के श£ोकों का प्रयोग।

अन्य चरितकाव्य

- सुमतिनाहचरियं – सोमप्रभसूरि (९००० गाथा)
- आदिनाह चरियं और मनोमाचरियं – वर्धमान सूरि
- कण्हचरियं – देवेन्द्रसूरि(११६* गाथायें)
- चंदप्पहणचरियं –जिनेश्वर सूरि(४० गाथायें)
- संतिनाहचरियं – देवचन्द्रसूरि
- पुहवीचन्द चरियं – शांतिसूरि(११०४ ई. में)
- नेमिनाह चरियं – मलधारी हेमचन्द्र

- मुणिसुव्वयसामिचरियं - श्रीचन्द्र(११*५ ई. में)
- सणंकुमारचरियं - श्रीचन्द्रसूरि
- चन्दप्पहचरियं, मल्लिनाथचरियं, - वाटगच्छीय हरिभद्र(इन्होंने चौबीस तीर्थंकरों के चरित लिखे, सिर्फ तीन ही उपलब्ध है।)
- नेमिनाहचरियं - वाटगच्छीय हरिभद्र
- संतिनाहचरियं - मुनिभद्र (१*५*ई. में)
- अनंतनाहचरियं- नेमिचन्द्रसूरि

गद्य-पद्यमिश्रित चरित काव्य

१. चउप्पन-महापुरिस-चरियं

चरित काव्य का नाम - चउप्पन-महापुरिस-चरियं

रचयिता - शीलंकाचार्य

समय - ८६८

कथावस्तु - इसमें ऋषभदेव, भरत चक्रवर्ती, शांतिनाथ, मल्लिस्वामी और पाश्र्वनाथ के चरित्र पर्याप्त विस्तारपूर्वक वर्णित है।

२. जंबूचरियं

चरित काव्य का नाम - जंबूचरियं

रचयिता - गुणपाल

समय - ९वीं शती

सर्ग - १६ उद्देश्यों

उपजीव्य - वसुदेवहिण्डी

3. रयणचूडरायचरियं

चरित काव्य का नाम - रयणचूडरायचरियं

रचयिता – नेमिचन्द्रसूरि

समय – ११२९-११४०

सर्ग – तीन भाग

४. सिरिपासनाहचरियं

चरित काव्य का नाम – सिरिपासनाहचरियं

रचयिता – देवभद्र या गुणभद्र गणि

समय – ११६८

सर्ग – पाँच प्रस्ताव

कथावस्तु – पाश्र्वनाथ भगवान का जीवन-चरित्र।

अलंकार – उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग

प्राकृत – महाराष्ट्री, अपभं्रश और संस्कृत का प्रभाव, संस्कृत के श£ोकों का प्रयोग।

रस- वीर, वीभत्स, शांत

५. महावीरचरियं

चरित काव्य का नाम – महावीरचरियं

रचयिता – गुणचन्द्रसूरि

समय – 1139

सर्ग – आठ प्रस्ताव

कथावस्तु – भगवान महावीर स्वामी का चरित्र।

प्राकृत – महाराष्ट्री, अपभ्रंश और संस्कृत का प्रभाव, संस्कृत के श्लोकों का प्रयोग।

प्राकृत खण्डकाव्य

साहित्यदर्पणकार ने कहा है - महाकाव्य के एकदेश का अनुशरण करने वाले काव्य को खण्डकाव्य कहते हैं। इसमें महाकाव्य की भाँति प्रबन्ध तत्त्वों का समावेश होता है। अलंकृति, वस्तु-व्यापार वर्णन, रसभाव एवं संवाद तत्त्व इस काव्यविधा में भी पायी जाते हैं। महाकाव्य में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होता है, तो खण्डकाव्य में जीवन के एक पक्ष का।

खण्डकाव्य प्रबंध-काव्य का वह अंग है, जिसमें मानव जीवन के किसी एक साधारण अथ्ज्ञवा मार्मिक पक्ष की अनुभूति का काव्यात्मक अभिव्यंजन होता है। प्राकृत के खण्डकाव्यों में निम्र तत्त्वों का समावेश है -

- लोक जीवन -
- वीरभाव -
- प्रेमतत्त्व -
- पौराणिकता -
- अहिंसा, वीरता, तप, त्यागादि का संदेश

1. कंसवहो

खण्डकाव्य का नाम - कंसवहो

रचयिता - रामपाणिवाद

समय - १७०७

सर्ग - चार

पद्य - 233

उपजीव्य - श्रीमद्भागवत

शैली - कालिदास, भारवि और माघ के समान

कथावस्तु - उद्धव श्रीकृष्ण और बलराम को धुषयज्ञ के बहाने गोकुल से मथुरा ले जाता है। वहाँ पहुँचने पर श्रीकृष्ण के द्वारा कंस की मृत्यु हो जाती है।

छन्द - वंशस्थ, वसन्ततिलका, प्रहर्षिणी, इन्द्रवज्रा, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, पृथिवी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, शिखरिणी।

अलंकार – उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त।

प्राकृत – महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी।

2. उषानिरुद्ध

खण्डकाव्य का नाम – उषानिरुद्ध

रचयिता – रामपाणिवाद

समय – १७०७

सर्ग – चार

पद्य –

उपजीव्य – श्रीमद्भागवत

शैली –

कथावस्तु – इसमें वाणासुर की कन्या उषा का श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ विवाह होना वर्णित है। प्रेम काव्य की दृष्टि से यह मध्यम कोटि का काव्य है।

छन्द – वंशस्थ, वसन्ततिलका, प्रहर्षिणी, इन्द्रवज्रा, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, पृथिवी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, शिखरिणी।

अलंकार – उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिंग।

प्राकृत – महाराष्ट्री।

रस – श्रृंगार एवं वीर रस।

3. भृंगसंदेश

खण्डकाव्य का नाम – भृंगसंदेश

रचयिता – अज्ञात

कथावस्तु – इसमें एक विरही व्यक्ति अपनी प्रिया के पास भृंग द्वज्ञक्रा संदेश भेजता है।

प्राकृत - महाराष्ट्री।

प्राकृत शिलालेखीय साहित्य का इतिहास

शिलालेखों के दृष्टिकोण से प्राकृत भाषा में निबद्ध शिलालेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिसके प्रमुख कारण निम्न हैं -

- ईसवीं सन् प्रथम शती के पूर्व तक के लगभग समस्त शिलालेख प्राकृत भाषा में निबद्ध है।
- उपलब्ध शिलालेखी साहित्य में प्राकृत भाषा के शिलालेख सबसे प्राचीन है।
- ई. पू. २६९ में प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के द्वारा गिरनार, कालसी, धौलि, जौगढ़ एवं मनसेहरा आदि स्थानों पर शिलालेख उत्कीर्ण कराये, जो सबसे प्राचीन है।

मानवीय संवेदनाओं, जीवमात्र और अहिंसा के दृष्टिकोण में रखकर शिलालेख लिये गये हैं, राज्यशासन की व्यवस्थायें, उसकी न्यायप्रणाली, प्रजा के लिये मिलने वाली सुविधायें, आदेश, व्यवस्थायें, समाज-सुधार, निश्चल प्रेम, त्याग, संयम, धर्मोपदेश आदि को दृष्टि में रखते हुये शिलालेख उत्कीर्ण किये हैं। अशोक के कलिंग के अभिलेख में कहा है - मेरी प्रजा मेरे बच्चों के समान है और मैं चाहता हूँ कि सबको इस लोक तथा परलोक में सुख तथा शान्ति मिले।

प्राकृत भाषा के शिलालेख संस्कृत भाषा से ज्यादा प्राचीन और विशिष्ट है। शिलालेखों का अध्ययन अत्यन्त अनिवार्य है। अगर साहित्य को जानना और समझना है तो शिलालेखों का ज्ञान और उसकी समझ होना बहुत जरूरी है। इतिहास का निर्धारण और विभिन्न ऐतिहासिक संशयों का समाधान इन्हीं अभिलेखों के माध्यम से प्राप्त होता है।

सम्राट् अशोक के शिलालेख

सर्वप्रथम हम यहाँ अशोक के अभिलेखों के चर्चा कर रहे हैं। सम्राट् अशोक के अभिलेखों की प्रथम विशेषता तो यह है कि ब्राह्मी लिपि का प्रयोग कर प्राकृत भाषा में अपने आदेश, घोषणायें, सूचनायें एवं प्रोत्साहित करने वाले तथ्यों को अभिलेखों पर उत्कीर्ण कराया गया। अशोककालीन चौदह शिलालेखों में शहबाजगढ़ी और मनसेरा संस्करण को छोडक़र शेष सभी अभिलेख ब्राह्मी लिपि में निबद्ध प्राकृत भाषा में है। भारतीय सीमा से अन्य स्थान के लोगों के लिये सम्राट् अशोक ने शहबाजगढ़ी एवं मनसेरा में खरोष्ठी लिपि का प्रयोग किया। जलालाबाद एवं गान्धार अभिलेखों में वहीं लिपियाँ प्रयोग की गई जिनका प्रचलन वहाँ था। अशोक के अभिलेखों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है -

1. शिलालेख

2. स्तम्भ लेख
3. गुफा अभिलेख।

अशोक के शिलालेखों की विशेषतायें –

- मौर्य साम्राज्य पश्चिमी भाग में अफगानिस्तान से उड़ीसा तक तथा हिमालय की तराई से (नेपाल की तराई का स्तम्भ लेख रम्मनदेई तथा कालसी के लेख)मद्रास प्रान्त के येरुगुडी (करनूल जिला) तक व्याप्त था।
- जीवन में अहिंसा को उतारने के लिये आहार-पान की शुद्धि का भी निर्देश शिलालेखों में हैं।
- सभी सम्प्रदायों के सार की वृद्धि की बात कही है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि लोग केवल अपने ही सम्प्रदाय का आदर और दूसरे सम्प्रदाय की निंदा न करें।

पहला शिलालेख – यह शिलालेख ब्राह्मी लिपि में निबद्ध प्राकृत भाषा में है। इसके माध्यम से सम्राट् अशोक के जीवन की पवित्रता का ज्ञान, पशुबलियों का निषेध एवं समाज की भीड़ों पर भी रोग लगाने संबंधी अभिलेख उत्कीर्ण किया गया है। इसका स्थान गिरनार शासन के १२ वर्ष अर्थात् २५७ ई.पू. २५७ है। उत्कीर्ण मूल शिलालेख के कुछ अंश प्रस्तुत है –

- इयं धंमलिपि देवानं पियेन (प्रियेन)
- पियदसिना (प्रियदसिना) राञा लेखा पि (ता)..
- चि जीवं आरभिप्ता प जूहितय्वं
- न च समाजो कतय्वो बहुकं हि दोसं .. ..

प्रियदर्शी राजा सम्राट् अशोक का आदेश था कि किसी जीवित प्राणी को न मारा जाए, न उसकी बलि दी जाए और न ही ऐसा कोई उत्सव मनाया जाए, जिसमें बहुयायत में जीवों क हिंसा होती हो। क्योंकि समाज में जब भी गायन, नृत्य, कलाबाजी, जुआ आदि होते हैं तो वहाँ जीवों की बहुत बड़ी संख्या में मारा जाता है, मदिरापान किया जाता है। इसलिये इन सभी को वर्जित कर दिया। प्रियदर्शी राजा ने आज्ञा दी कि अनेक व्यंजनों को बनाने के लिये कई सौ हजार प्राणियों को मार दिया जाता था, लेकिन अब केवल तीन पशु, दो मोर और एक हिरन भी कभी-कभी मारे जाते हैं। भविष्य में ये तीन पशु भी नहीं मारे जायेंगे।

दूसरा शिलालेख – यह भी शासन के बारहवें वर्ष गिरनार में लिखा गया अभिलेख है जिसमें मनुष्यों एवं पशुओं को आराम पहुंचाने का निर्देश प्राकृत भाषा में ब्राह्मी लिपि के द्वारा दिया गया है।

- राजानो सर्वत्र देवानंपि यसपि यदसिनो राञो द्वे चिकीछकता।

- मनुस-चिकीछा च पसुचिकीछा च। ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च।
- पसो गानि च यत यत नास्ति सर्वर्त हारापितानि च रोपापितानि च।
- मूलानि च फलानि च यत यत नास्ति सर्वत हारापितानि च रोपापितानि च।
- पथेसु कूपा च खानापिता र्वछा (वृक्षाः)च रोपापिता परिभोगाय पसुमनुसानं।

सभी जगह विजय प्राप्त करने वाले देवताओं के प्रियदर्शी राजा अशोक द्वज्ञक्रा राज्य में सर्वत्र और उसकी सीमाओं-चोल, पाण्ड्य एवं सतियापुत, केरलपुत, ताम्रपर्णी, अन्तियोक यवन राजा एवं उसके अन्य पड़ोसी राज्य तक में हर स्थान पर मनुष्यों तथा पशुओंकी चिकित्सा की व्यवस्था कर दी गई है। मनुष्यों के लिये और पशुओं के लिये जहाँ-जहां औषधियाँ नहीं है वहाँ-वहाँ उपलब्ध करा दी गई और वो दी गई है। इसी प्रकार जहाँ मूल और फल नहीं है वहाँ वे लाए गये हैं और रोप दिये गये हैं। मार्गों पर कुओं का निर्माण किया गया है और दोनों ओर पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिये पेड़ लगवा दिये गये हैं।

तृतीय शिलालेख - शिलालेख स्थान गिरनार, भाषा प्राकृत और लिपि ब्राह्मी है। इसमें प्रशासनिक अधिकारियों को आज्ञा दी गई कि पाँच वर्ष में रज्जुक और प्रादेशिक जाया करें।

- य पि कंमाय साधु मातरि पितरि च सुर्सू सा मितासंस्तुत ञातीनं बाम्हण-
- समणानं साधुनं प्राणानं साधु अनारंभी अपय्वयता अपभांडता साधु
- परिसा पि युत आञपयिसति गणनायं हेतुतो च व्वं जनतो च।

माता-पिता को आदर भाव, मित्रों, परिचितों, संबंधियों, ब्राह्मणों को उपहार देना, पशुओं का वध न करना, व्यय एवं संग्रह में कमी करना प्रशंसनीय है।

चतुर्थ शिलालेख - राजा की न्यायप्रियता एवं पवित्रता को द्योतित करने वाला।

- वधी च अहीनी च साधु एता य अथाय-इद लेखापितं इमस अथ सवधि युजंतु हीनि च।
- नो लोचेतय्वा द्वादसवासभिसितेन देवानंर्पि येन र्षि यदसिना राञा इदं लेखापितं।

पिछले सैकड़ों वर्षों से पशुओं की हत्या, जीवों के प्रति निर्दयता, ब्राह्मणों के प्रति असम्मान बढ़ता जा रहा है। अब देवताओं के प्रियदर्शी राजा अशोक का आदेश है धर्म के आचरण को संसार के खत्म होने तक बढ़ाते रहे। धर्म प्रचार प्रशंसनीय है। यह शिलालेख इसलिये लिखवाया है क्योंकि मेरी संतति अपने धर्म का विकास कर सके।

पाँचवा शिलालेख – शासन के १३वें वर्ष में मनसेरा पंजाब से प्राप्त प्राकृत भाषा एवं खरोष्ठी लिपि में निबद्ध यह शिलालेख धार्मिक भावना का विकास एवं धर्म महापात्रों की नियुक्ति एवं उनके कार्यकलापों से संबद्ध है। इस अभिलेख के द्वारा शासन शुद्धता के लिये शासन में निरीक्षण प्राणील को समुचित ठहराया गया है।

सार – सम्राट् अशोक कहते हैं – कल्याण कठिन है लेकिन जो सदकार्य करते हैं, वे कठिन उपलब्धि को प्राप्त करते हैं। जो अच्छे कर्म मैंने या मेरी संतति ने किये हैं, वे संसार के अंत होने तक मेरा अनुकरण करेंगे। बहुत समय से धम्ममहामात्र नियुक्त नहीं हुये थे, मैंने नियुक्त किये हैं। वे प्रत्येक सम्प्रदाय में धर्मस्थापना हेतु प्रयत्नशील है।

छठा शिलालेख – यह गिरनार में शासन के तेरहवें वर्ष में ब्राह्मी लिपि में प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण है। इसमें प्रशासन के एक भाग का वर्णन है।

सार– प्रियदर्शी अशोक ने कहा – जनता के मामले राजा तक नहीं पहुँच पाते हैं अतः मैं कहीं भी रहूँ या शयन में हूँ, भ्रमण में हूँ, अन्तःपुर में हूँ या अन्यत्र कहीं भी, सभी जगह मैंने संदेशवाहक नियुक्त कर दिये, जनता से जुड़े शीघ्र मेरे पास लेकर आवे। जिससे उनको सही समय पर न्याय मिल सके। एवं मेरे आदेशों की पालना शीघ्र की जावे। यदि इसमें कोई तर्क–वितर्क होता है तो उसकी सूचना भी मुझे दी जावे। एवं मेरी संताने भी जनता के लिये कार्य करें।

सातवाँ शिलालेख – प्राकृत भाषा, खरोष्ठी लिपि, शाहबाजगढ़ी में शासन के १*वें वर्ष में धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति निष्पक्षता का आदेश।

सार – प्रियदर्शी अशोक ने यह इच्छा की है कि सभी धार्मिक सम्प्रदाय सभी जगह उन्नत हो, सभी सम्प्रदाय आत्म संयम एवं वैचारिक शुद्धता चाहते हैं। ऊँच–नीच के दुर्भाव, आत्मसंयम का अभाव, वैचारिक शुद्धता का अभाव, कृतज्ञता एवं दृढ निश्चयता का अभाव अधर्म है।

आठवां शिलालेख – विहार यात्रा एवं धर्म यात्रा संबंधी गिरनार के प्राकृत भाषा निबद्ध ब्राह्मी लिपि में लिखित। राज्याभिषेक के दसवें वर्ष के बाद बोध गया की यात्रा के विषय में वर्णन है।

सार – अतीत में राजा आनंद और शिकार के लिये भ्रमण करते थे। परन्तु अशोक संबोधि गये, उनकी यह धार्मिक यात्रा थी। जहाँ उन्होंने ब्राह्माणों और श्रमणों के दर्शन किये। वृद्धों से मिलना, सहारा देना, धर्म की शिक्षा देना यह उच्चस्तर का आनंद होता था।

नवाँ शिलालेख – मनसेरा के प्राकृत भाषा, खरोष्ठी लिपि में निबद्ध शिलालेख में पारस्परिक सुसमारोहों की निस्सारता एवं धर्म के सच्चे विधि विधान को दर्शाया है।

सार – लोग पारम्परिक रस्में का निर्वहन करते हैं जो कि निःसार है। फलीभूत वही रस्म है जो नौकरों एवं दासों के साथ समुचित व्यवहार, बड़ो का आदर, प्राणी संयम, दान देना, लोकालोक के उद्देश्य की पूर्ति होती है, पुण्यसंचय होता है स्वर्ग मिलता है।

दसवाँ शिलालेख – गिरनार, प्राकृत, ब्राह्मी लिपि। अशोक के उद्योग को लक्षित करना है।

सार – राजा अशोक कीर्ति और प्रसिद्धि को श्रेष्ठ नहीं मानते हैं। उनका मानना है कि प्रजा धार्मिक अनुष्ठान करें और सदाचरण करें। भ्रष्टाचार से छुटकारा पा जाना बहुत ही कठिन कार्य है।

ग्यारहवाँ शिलालेख – काल्सी स्थान पर, प्राकृत भाषा, ब्राह्मी लिपि, १ *वें वर्ष में। धर्म की व्याख्या, धर्मदान श्रेष्ठ दान।

सार – धर्मदान जैसा कोई दान नहीं है। अतः धर्म को आधार बनाकर राज्य करना चाहिये। माता-पिता का सम्मान, ब्रह्माणों को दान, पशुओं का वध न करना, इस लोक और परलोक दोनों में आनंद देने वाला है।

बारहवाँ शिलालेख – तेरहवें वर्ष में शाहबाजगढ़ी में, प्राकृत, खरोष्ठी लिपि। राजा ने सहनशीलता की शिक्षा दी है।

सार – समस्त सफलताओं का मूल मंत्र संयम है। अपने धर्म की अतिशय प्रशंसा न हो, और दूसरे सम्प्रदाय की निंदा न हो। सभी सम्प्रदायों का समादर करें। वाणी को संयमित करें। लोग सभी धर्मों के मौलिक तत्त्वों को सुनकर उनका आचरण करें।

तेरहवाँ शिलालेख – राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में, कलिंग देश की विजय पर, शाहबाजगढ़ी, प्राकृत, खरोष्ठी लिपि। युद्ध द्वारा विजय की बुराइयाँ तथा धर्म विजय की अच्छाईयाँ का विवेचन है।

सार– राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में देवताओं के प्रियदर्शी अशोक ने कलिंग देश को जीत लिया। जिसमें १५० हजार लोगों को बंदी बनाकर बाहर भेज दिया गया। एक लाख लोग कत्ल किये गए और इनसे कई गुना लोग मारे गये। इसके उपरान्त राजा अशोक धर्माचरण में प्रवृत्त हो गये। और सब लोगों को धर्म की शिक्षा देने लगे। धर्मविजय ही सच्ची विजय है। इससे ही इहलोक और परलोक दोनों में आनंद की प्राप्ति होती है।

चौदहवाँ शिलालेख – उपसंहार रूप में गिरनार में उपलब्ध प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में। पुनर्कथनों के लिये क्षमा प्रार्थना है।

सार – यह अभिलेख संक्षेप, मध्य और विस्तार से लिखे गये हैं। जिनका उल्लेख बार-बार हुआ है वे विषय बहुत महत्वपूर्ण है। जिससे लोग इसका परिपालन करें।

खारवेल का हाथीगुंफा अभिलेख

शुंगकालीन अनेक गुहा मंदिर उड़ीसा में मिलते हैं, जिन्हें गुम्फा कहते हैं। पर्वतों को काटकर बनाये गये कमरे, विहार, मठादि में द्वार से भीतर जाने पर विशाल भवन का आनंद मिलता है। उड़ीसा के ये गुहा मंदिर जैनों के है, इनमें कलिंग चक्रवर्ती खारवेल का सुप्रसिद्ध हाथीगुंफा अभिलेख पाया गया है। यह लेख खारवेल के क्रियाकलापों का वर्णन करता है। इस अभिलेख में प्रथमतः शुद्ध प्रशस्तियाँ मिलती है। यह एकमात्र प्रलेख है जो खारवेल के शासनकाल का निर्दोष वृत्तान्त प्रस्तुत करता है। इसके ऊपरी बाएं कोने पर शुभचिह्न, बुद्ध मंगल एवं स्वास्तिक है। इस अभिलेख में अर्हतों एवं सिद्धों को अभिवादन, उसका मूल वंश ऐल, राजकीय उपाधि, महाराजा उसका विरुद्ध महावेग वाहन, उसकी राज्यक्षेत्र उपाधि कलिंगाधिपति एवं उसका व्यक्तिगत नाम खारवेल आदि सब कुछ अंकित है।

सार – सर्वप्रथम अर्हतों को नमस्कार, सभी सिद्धों को प्रणाम करके आर्य महाराज चेदिराज के वंश को बढ़ाने वाले कलिंग के अधिपति राजा खारवेल ने १५ वर्षों तक खेलकूद से युक्त जीवन व्यतीत किया। विभिन्न ज्ञान शाखाओं से उसकी शिक्षा अगले नौ वर्ष तक चली और चौबीस साल पूरे होने पर उसका राज्याभिषेक हुआ। अपने शासन के प्रथम वर्ष में खारवेल ने जीर्ण भवनों का उद्धार किया, तालाबों एवं झीलों का निर्माण कराया। अनेक बाग लगवाये और प्रजानुरंजन के कार्य किये। दूसरे वर्ष में पश्चिम के शातकर्णी का विरोध किया, तीसरे वर्ष में राजधानी के लोगों के लिये सामाजिक समारोहों का आयोजन, चौथे वर्ष में कलिंग के प्राचीन राजमहल में प्रवेश करके, रथिकों एवं भोजिकों को पराजित किया। नंदसंवत् तीन सौ में प्रारंभ होने वाले पानी के लंबे नल का नगर में प्रवेश, सिंहासनारूढ़ होने के पंचम वर्ष में कराया। षष्ठ वर्ष में राजसूय यज्ञ कराकर लोगों को दान एवं उपहार दिये। सप्तम वर्ष में कुछ राजाओं को नियंत्रित किया। अष्टम वर्ष में विशाल सेना के द्वारा गोरधगिरि को विनष्ट करके राजगृह को पीड़ा पहुँचाई। इस कार्य को देखकर सेना एवं वाहन को भ्ज्ञय से छोडक़र यवन राज डिमित भाग गया। अपनी इस विजय की खुशी मनाने पर उसने विपुल उपहार दिये तथा अभिषिक्त होने के नौवें वर्ष में ३८ लाख मुद्राओं से महाविजय प्रासाद का निर्माण कराया। दशम वर्ष में भारत की विजय हेतु खारवेल ने सेना को भेजा और ग्यारवें वर्ष में उसने पराभूत राजाओं का वैभव हर लिया। बारहवें वर्ष में उसने उत्तरापथ के राजाओं को आतंकित किया एवं मगधों को बहुत भय उत्पन्न करते हुये अपने घोड़ों को गंगा का जल पिलवाया। उसने

मगधराज बहसति मित्र को अपने चरणों पर झुकने के लिये विवश किया। जो जैन मूर्ति, नंदराज ले गया था उसे वापस लिया एवं अंग और मगध के धन को ले लिया। तरेहवें वर्ष में उसने कुमारी पर्वत पर गुफा गृह खुदवाए जिनको जैन तपस्वियों के रहने के लिये सुसज्जित किया। इस प्रकार खारवेल को मांगल्य, समृद्धि, भिक्षुराज, धर्मराज, द्रष्टा, श्रोता एवं शुभचिन्तक विशिष्ट गुण सम्पन्न राजा माना गया है। जिसका जन्म राजर्षियों के वंश में हुआ था, जो सेना का स्वामी, चक्र महारथी और महान् विजयों का नेता था।

द्वितीय स्तरीय – प्रथम युगीन प्राकृत

जिस प्राकृत में लिखित साहित्य विद्यमान है, उसे द्वितीय स्तरीय प्राकृत कहा जाता है। इसके मूल रूप से तीन भेद है –

1. प्रथम युगीन
2. द्वितीय युगीन
3. तृतीय युगीन

द्वितीय स्तरीय प्रथम युगीन प्राकृत सबसे प्राचीन है। इसका वर्गीकरण निम्न है –

1. आर्ष प्राकृत
2. शिलालेखी प्राकृत
3. निया प्राकृत
4. प्राकृत धम्मपद की प्राकृत
5. अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

आर्ष प्राकृत से अभिप्राय बौद्ध और जैन आगामों की प्राकृत भाषा से है।

पालि – पालि प्राकृत का ही रूप है। १2वीं और चौदहवीं शती के पूर्व पालि शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। विद्वान गायगर ने इसे आर्ष प्राकृत कहा है। आचार्रू बुद्धघोष ने इस शब्द का प्रयोग बुद्धवचन और मूलत्रिपिटक के अर्थ में किया है। अ_कथा से बुद्धचनों को अलग करने के उद्देश्य से पालि शब्द का प्रयोग किया गया है। पाठ(भिक्षुसिद्धार्थ), पंक्ति(अभिधानप्पदीपिका), बुद्धवचन, पंक्तिवाचक, पाटलिपुत्र की भाषा(मैक्समूलर), ग्राम या गाँव (विपाकश्रुत) आदि पालि को के अर्थ किये गये हैं। एक अन्य विद्वान् ने पालि की उत्पत्ति पल्लि से मानी है। पल्लि मूलतः संस्कृत का नहीं प्राकृत का शब्द है।

बौद्धधर्मानुयायियों के अनुसार पालि मागधी है और यही वह भाषा है जिसमें भगवान बुद्ध ने जनकल्याण की भावना से उपदेश दिये हैं। परन्तु तुलनात्मक अध्ययन करने से पैशाची के अधिक निकट पालि का संबंध स्थापित होता है। जैसे –

संस्कृत	पालि	मागधी	शौरसेनी	पैशाची
लोक	लोक	लोअ	लोअ	लोक
रजत	रजत	लअद	रअद	रजत
नगर	नगर	णअल	णअर	नगर

यह मूलतः मगध की भाषा थी। यहाँ से यह तक्षशिला के विद्यापीठ पहुँची और वहाँ पर पैशाची का प्रभाव पड़ा।

जैन सूत्रों की प्राकृत – अर्धमागधी – जैनागम की भाषा अर्धमागधी है। भगवान महावीर स्वामी के उपदेश अर्धमागधी में हुये हैं। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों की रचना अर्धमागधी में हुई है, परन्तु भगवान महावीर स्वामी के उपदेश की भाषा अर्धमागधी और श्ववेताम्बर आगम की अर्धमागधी भिन्न है। श्वेताम्बर आगम की भाषा में पद्य भाग की भाषा गद्य भाग की भाषा की अपेक्षा अधिक प्राचीन तथा आर्ष है। अर्धमागधी का आभास अशोक के उड़ीसा प्रदेशवर्ती कालसी, जौगढ़ एवं धौली नामक स्थानों पर उत्कीर्ण १४ प्रशस्तियों से होता है। इसकी प्रमुख विशेषतायें –

- र् के स्थान पर फ् या ल्।
- तीनों ऊष्म श्, ष् और स् के स्थान पर स्
- अकारान्त संज्ञाओं के कत्र्ताकारक एकवचन में एक विभक्ति का चिह्न प्राप्त होता है।

शौरसेनी प्राकृत – दिगम्बर जैनागम की भाषा शौरसेनी है। इसका प्राचीन रूप अशोक के गिरनार शिलालेखों से होता है। ६८ * के लगभग जब अंगज्ञान लुप्त होने लगा था, तो खण्डशः ज्ञान के आधार पर कर्मप्राभृत (षड् खण्डागम) एवं कसायपाहुड जैसे गंभीर सैद्धान्तिक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। उपलब्ध अर्धमागधी की अपेक्षा उपलब्ध शौरसेनी अधिक प्राचीन है। कालगणानुसार से ३०० वर्ष अधिक प्राचीन है। आर्षप्राकृत में अर्धमागधी और शौरसेनी दोनों का विश£ेषण आवश्यक है।

अर्धमागधी – अर्धमागधी शब्द की व्युत्पत्ति 'अर्धमागध्या' अर्थात् जिसका अर्धांश मागधी कहा गया है। अर्धमागधी में अ_ारसदेसीभासानिययं वा अद्धमागहं। अन्यत्र भी इसे सर्वभाषामयी कहा है। इसकी मूल

उत्पत्ति पश्चिम मगध और शूरसेन (मथुरा) का मध्यवर्ती प्रदेश अयोध्या है। भगवान् महावीर अर्धमागधी भाषा में धर्मोपदेश देते थे। यह शान्ति, आनन्द और सुखदायिनी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृपों के लिये उनकी अपनी-अपनी बोली में परिणत हो जाती थी। अर्धमागधी को ऋषिभाषिता भाषा कहा गया है। वैदिक भाषा के समान इसे भी प्राचीन भाषा माना जाता है।

सर्वमान्य सिद्धान्त है कि अर्धमागधी का रूपगठन मागधी और शौरसेनी से हुआ है। इस विषय में निम्न मत है –

- हार्नले ने समस्त प्राकृत बोलियों को दो वर्गों में बाँटा है। एक वर्ग को उसने शौरसेनी प्राकृत बोली और दूसरे वर्ग को मागधी प्राकृत बोली कहा है। मार्कण्डेय ने अर्धमागधी के स्वरूप को कहा है –

शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी।

- अर्थात् शौरसेनी भाषा के निकटवर्ती होने के कारण मागधी ही अर्धमागधी है।
- अभयदेव ने उवासगदसाओ की टीका में कहा है – अर्धमागधी का रूप मागधी मिश्रित शौरसेनी माना है।
- अर्धमागधी के प्राचीन रूप पयाप्त मात्रा में मिलते हैं। भरत अपने नाट्यशास्त्र में नाटकों में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं का उल्लेख करते हुये निम्नलिखित प्राकृतों का उल्लेख किया है –

मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरशेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः।।35-36

- अर्थात् मागधी, अवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या के साथ अर्धमागधी भाषा विभिन्न देशवाले पात्रों की कथ्य भाषा होती है। भरतमुनि का समय ई.पू. 300 माना गया है।
- प्रसिद्ध वैयाकरण वररुचि ने महाराष्ट्री, पैशाची, शौरसेनी और मागधी इन चार ही प्राकृत भाषाओं का निर्देश किया है। वररुचि का समय ई. सन् तीसरी शती माना गया है।

उक्त मतों से स्पष्ट होता है कि अर्धमागधी ध्वनितत्त्व, रूपतत्त्व, शब्दसम्पत्ति एवं अर्थतत्त्व की दृष्टि से प्राचीन शौरसेनी और प्राचीन मागधी का मिश्रित रूप है।

अर्धमागधी की ध्वनिपरिवर्तन संबधी विशेषतायें –

1. अर्धमागधी में इ ए और उ ओ का परस्पर विनिमय पाया जाता है। जैसे – इदिस एदिस < इदृश, तूण तोण।
2. इसमें दो स्वरों के मध्यवर्ती असंयुक्त क् के स्थान पर सर्वत्र ग् और अनेक स्थलों पर त् और य् पाये जाते हैं। जैसे – पगप्प < प्रकल्प। आगर < आकर।आगस < आकाश। सावग < श्रावक।
3. दो स्वरों के बीच का असंयुक्त ग् प्रायः स्थित रहता है। कहीं-कहीं त् और य् भी पाये जाते हैं।
4. आगम <आगम। अणुगमिय <अनुगमिक। भगवं < भगवान.

5. दो स्वरासें के बीच में आने वाले असंयुक्त च् और ज् के स्थान में त् और य् दोनों होते हैं। जैसे – णारात < नाराच। कयाती <कदाचित्। भोति <भोजिन्।
6. दो स्वरों का मध्यवर्ती त् प्रायः बना रहता है। कहीं-कहीं इसका य् भी होता है। वंदति < वन्दते। करयल <करतल।
7. दो स्वरों के बीच में स्थित द् के स्थान पर द् और त् ज्यों का त्यों है।
8. पदिसो < प्रदिशः। जता <यदा।
9. दो स्वरों के मध्यवर्ती प् के स्थान पर य् होता है। यथा – पावग <पापक। संलवति <संलपति।
10. स्वरों का मध्यवर्ती य् प्रायः ज्यों का त्यों रह जाता है। कहीं-कहीं उसका त् भी होता है। यथा – वायव <वायव। पिय <प्रिय। सिता < सिया
11. दो स्वरों के मध्यवर्ती व् के स्थान पर व्, त् और य् होते हैं। यथा – वायव <वायव। गारव <गौव। परिताल <पनिरवार। परियट्टण <परिवर्तन
12. शब्द के आदि, मध्य और संयोग में सर्वत्र ण् की तरह न् भी स्थित होता है। यथा- नई <नदी। नायपुत्त <ज्ञातपुत्र।
13. एव के पूर्व अम् के स्थान पर आम् होता है। यथा- जामेव <यमेव। एवामेव <एवमेव
14. दीर्घ स्वर के बाद इति वा के स्थान में ति वा और इ वा का प्रयोग होता है। यथा- इंमहे ति वा <इन्द्रमह ति वा
15. यथा और यावत् शब्द के य् का लोप और ज् दोनों ही देख जाते हैं। यथा – अहक्खाय <यथाख्यात। अहाजात <यथाजात
16. दिवस् शब्द के व् और साकार के स्थान पर विकल्प से यकार और हकार आदेश होते हैं। यथा – दियहं, दियसं <दिवसं
17. गृह शब्द के स्थान पर गह, घर, हर और गिह आदेश होते हैं। यथा गहं घरं हरं गिहं <गृहम्।
18. म्लेच्छ के च्छ <क्खू, एकार <आकार और उकार आदेश। यथा- मिलेक्खू, मिलक्खू, मिलुक्खु < म्लेच्छः
19. पर्याय शब्द के र्याय भाग के स्थान पर विकल्प से रिया और जाय आदेश होता है। यथा – परियागो, परिआगो, पज्जायो <पर्यायः।
20. बुधादिगण पठित शब्दों के धकार के स्थान पर विकल्प से हकार आदेश होता है। बुहो <बुधः, रुहिरं <रुधिरं।
21. वर्ज आदि शब्दों में व् <विकल्प से उ। आउजजो, आवज्जो <आवर्जः।
22. पुट और पुर शब्द के पकार का विकल्प से लोप होता है। तालउडं, तालपुडं <तालपुटम्।

23. अकारान्त पुल्लिंग शब्दों में प्रथमा एकवचन में ए और ओ। सप्तमी एकवचन में सं्िस। तृतीया में ण के साथ सा और चतुर्थी में आये या आते प्रत्यय जुड़े है।
24. समूह, संबध और अपत्यार्थ <इय, अण् और इज्ज।
25. निज संबंध के लिये <इच्चिय और इज्जिय।
26. भावार्थ में <इय इल्ल, इज्ज, इक और क।
27. स्वार्थ में < अण्, इक, इज्ज, इय, इयण, इम इल्ल, त्ता, उल्लह और मेत्त।
28. अतिशय अर्थ में <इ_, इज्ज।
29. भाववाचक - त्त और तण।
30. विकार अर्थ में - अण् और मय।
31. प्रकार अर्थ में - हा प्रत्यय।
32. भूतकाल बहुवचन में -इंसु।
33. कर्मणि में - इज्ज।
34. प्रेरणा में - आवि प्रत्यय जोडऩे के अनंतर धातु प्रत्यय जोडऩे से कर्मणि और प्रेरणा के रूप होते हैं।
35. कृत् प्रत्यय में क्त्वा <त्ता, त्तु, तूण, ट्टु, उं, ऊण, इय, इत्ता, इत्ताणं, एत्ताणं, इत्तु, च्च।
36. हेत्वर्थक तुमुन् <इत्तए, इत्तते, त्तुं, उँ
37. वर्तमान अर्थ में - न्त, माण।
38. अकारान्त धातुओं से होने वाले त प्रत्यय <ड। यथा - कृ+त= कृड।

प्राचीन शौरसेनी या जैन शौरसेनी -

विद्वानों ने देशभेद के कारण मागधी और शौरसेनी इन दो प्राकृतों को प्राचीन माना है। एक का प्रचार काशी के पूर्व में और दूसरी का काशी के पश्चिम में सम्राट् अशोक के शिलालेखों में उक्त दोनों ही भाषाओं के प्राचीनतम स्वरूप सुरक्षित है। अशोक के १४ धर्मलेख, जो कि काठियावाड़ के गिरनार नामक स्थान की शिला पर उत्कीर्ण है वे भाष की दृष्टि से शौरसेनी का प्राचीनरूप व्यक्त करते हैं। इस प्रकार ई.पू. तीसरी शती में पश्चिम भारत में शौरसेनी के वर्तमान रहने के शिलालेखी प्रमाण उपलब्ध है। ई.पू. १५० के लगभग खारवेल के शिलालेख में प्राचीन शौरसेनी का व्यवहार किया गया। पश्चिम से पूर्व की ओर शौरसेनी का विस्तार हुआ है। आचार्य भद्रबाहु के संघ साथ-साथ प्राचीन शौरसेनी भी दक्षिण भारत में पहुँची।

- खारवेल के साथ शौरसेनी की जड़े दक्षिण भारत में बहुत दूर तक प्रविष्ट हुई। भद्रबाहु के संघ ने जिस शौरसेनी कीा बीजवपन किया था, उसकी पुष्टि और समृद्धि सम्राट् खारवेल के द्वारा दक्षिण भारत में हुई।

- ई. सन् की प्रथम शती के लगभग-वी नि सं. ६८* में काठियाड़ भी जैन संस्कृति का केन्द्र था। धरसेनाचार्य गिरनार की चन्द्रगुफा में रहते थे। उन्होंने वहीं पुष्पदंत और भूतबलि नामक आचार्यों को बुलाकर आगम ज्ञान प्रदान किया। जिसके आधार पर उन दोनों ने द्राविड़ देश में जाकर षट्खण्डागम के सूत्रों की रचना पश्चिमीय और दक्षिणीय प्राकृत भाषा - प्राचीन शौरसेनी में की। इसके पश्चात् आचार्य कुंदकुंद आदि आचार्यों ने इस भाषा को सार्वभौमिकता प्रदान की। एक प्रकार से दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थों की यह मूलभाषा बन गई।

प्राचीन शौरसेनी या जैन शौरसेनी उपलब्ध अर्धमागधी की अपेक्षा प्राचीन है। इसका प्रचार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारत में सर्वत्र था। नाटकों में भी शौरसेनी भाषा का प्रयोग व्यापक विद्यमान है। इस नाटकीय शौरसेनी का विकास जैन शौरसेनी से ही हुआ है।

विशेषतायें - जैन शौरसेनी के प्राचीन उदाहरण षट्खण्डागम के सूत्रों में विद्यमान है।

- ऋ- इ - इड्ढि - ऋद्धिः
- ऋ - ज - गहिय - गृहीत्वा
- ऋ-ओ - मोस- मृषा
- ऋ-उ - पुढविकाइया-पृथिवीकायकाः
- त-द - चेदि-चेति
- थ-घ - तघप्पदेसा - तथाप्रदेशा, जध - यथा
- ध-ध - सौधम्म-सौधर्म
- त-य - रहियं-रहितं
- त-त - तिहुवणतिलयं - त्रिभुवनतिलकम्
- क-ग - वेदग-वेदक
- क-क- संतोसकरं-संतोषकरं
- क-य- सामाइयं-सामयिकम्
- क-अ- स्वरशेष अलिअं-अलीकम्, नरए-नरके, काए-काये
- क,ग,च,ज,त,द,प (विकल्प से लोप) - सुयकेवलिमिसिणी-श्रुतकेवलिमृषयः, लोयप्पदीवयरा- लोकप्रदीपकरा, गइ-गति, वयणेहि-वचनैः, सयलं-सकलम्, बहुभेया-बहुभेदा।

- अ या आ के स्थान पर य श्रुति - तित्थयरो-तीर्थंकर, पयत्थ- पदार्थः, वयेणा- वेदना।
- उ के स्थान पर व श्रुति - बालुवा-बालुका, बहुवं-बहुकं, विहुव-विधूत
- प्रथमा एकवचन में ओ - दव्वसहावो-द्रव्यस्वभावः
- सप्तमी एकवचन में म्मि और म्हि - एगम्हि- एकस्मिन्, गब्भम्मि-गर्भे।
- षष्ठी और चतुर्थी में सिं - तेसिं-तेभ्यः, सव्वेसिं-सर्वेषाम्
- पंचमी एकवचन का विभक्ति चिह्न लोप - णाणादो-ज्ञानात्
- क्त्वा के स्थान पर त्ता - जाणित्ता, वियाणित्ता
- क्त्वा के स्थान पर य, च्च, इय, त्तु, दूण, ऊण, उ - गहिय-गृहीत्वा, किच्छा-कृत्वा, भविय-भूत्वा, गमिऊण-गत्वा, कादूण-कृत्वा, छड्डिय-त्यक्त्वा, कट्टु-कृत्वा

शिलालेखी प्राकृत -

आर्ष प्राकृत के पश्चात् शिलालेखी प्राकृत का स्थान आता है। शिलालेखों में सबसे प्राचीन शिलालेख अशोक के हैं। जो कि शाहबाजगढ़ी और मनसेरा के शिलालेख खरोष्ठी और अवशेष शिलालेख ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण है। अशोक के लगभग ३० शिलालेख है। इनका समय ई.पू. २७०-२५० का है। इन शिलालेखों में केवल ईसा पूर्व तीसरी शती की ही प्राकृत का रूप ही विद्यमान नहीं है अपितु तत्कालीन भाषा के प्रादेशिक भेद भी प्राप्त होते हैं। इन शिलालेखों में मागधी, शौरसेनी एवं पैशाची की प्रवृत्तियाँ पायी जाती है।

- अशोक के पश्चात् खारवेल के हाथीगुंफा का शिलालेख, उदयगिरि एवं खण्डगिरि शिलालेख आदि।
- ई.पू. तीसरी शती का धर्मपाल का एक सिक्का म.प्र. प्रान्त के सागर जिले से प्राप्त हुआ जिस पर ब्राह्मी लिपि में धम्मपालस-धर्मपालस्य लिखा है।
- ई.पू. दूसरी शती में खरोष्ठी लिपि में सिक्का प्राप्त हुआ, जो कि दिमिलयस का है- उस पर उत्कीर्ण है - महरजस अपरजितस दिये।

खारवेल के शिलालेख -

इनकी भाषा प्राचीन शौरसेनी या जैन शौरसेनी है। इसका समय ई.पू. १०० है।

निया प्राकृत -

निया प्रदेश से प्राप्त लेखों के आधार पर इस भाषा का निर्धारण निया प्राकृत के रूप में किया है। यह भाषा पश्चिमोत्तर प्रदेश (पेशावर के आसपास) की मानी गयी है। क्योंकि इस भाषा का संबंध खरोष्ठी धममपद और अशोक के पश्चिमोत्तर प्रदेश के खरोष्ठी शिलालेखों की भाषा से है। बरो ने इन लेखों की भाषा की भारतीय प्राकृत भाषा कहा है, जो कि वि. तीसरी शती में काॅरराइना या शनशन की राजकीय भाषा थी। इस निया प्राकृत में दीर्घस्वर ऋ ध्वनि औश्र सघोष्ज्ञ उष्म ध्वनियों का अस्तित्व वर्तमान है, जबकि भारतीय प्राकृत में ये ध्वनियाँ नहीं है।

प्राकृत धम्मपद की प्राकृत भाषा – इस धम्मपद की भाषा पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोलियाँ से मिलती है। धम्मपद का मूल भारत में ही लिखा गया होगा। खरोष्ठी लिपि में होने के कारण इसका नाम खरोष्ठी धम्मपद पड़ गया। यद्यपि इसकी भाषा प्राकृत है, इसकी समता अशोक के उत्तर-पश्चिम के शिलालेखों की भाषा से की जा सकती है। यह ग्रन्थ बारह सर्गों में विभक्त है और इसमें कुल २३२ पद्य है। इसका रचना काल २०० ई के लगभग माना जाता है।

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत भाषा – अश्वघोष के नाटकों में मागधी, शौरसेनी और अर्धमागधी इन तीनों प्राकृतों का उल्लेख है। इसका काल ई. सन् १०० है। खलपात्र की भाषा मागधी, गणिका और विदूषक की प्राचीन शौरसेनी, गोभम की मध्यपूर्ववर्ती-अर्धमागधी है।

महाकवि भास के नाटकों की भाषा प्रायः शौरसेनी है। मागधी का प्रयोग प्रतिज्ञा, चारुदत्त तथा बालचरित में, अर्धमागधी का प्रयोग कर्णभार में मिलता है। भास की प्राकृत प्राचीन है परन्तु इसका स्थान अश्वघोष के पश्चात् है।

नाटक साहित्य में प्राकृत

जनसाधारण के आनंद और मनोरंजन के लिये नाट्यरचना और नाट्यमंचन की परम्परा बहुत पुरानी है। नाटक एक ओर जहाँ जनसामान्य को आनंदित करते हैं वहीं दूसरी ओर सामाजिक और नैतिक विचारों एवं संस्कारों का शंखनाद करते हैं। नाटकों का प्रारंभ ईशवंदना के साथ होता है और वे नायक और नायिका गुणों को कहते हुये अपने मुख्य विषय पर पहुँचते हैं। मध्य में नाटक की कथा में दुःख, विरह, भ्रम, अहं आदि भावों का चित्रण होता है तो अंत सुखद होता है, सकरात्मक होता है। बीच-बीच में प्रकृति के मनोरम दृश्यों का वर्णन होता है, तो दूसरी ओर नायिका के सौन्दर्य का दृश्यात्मक चित्रण प्रस्तुत होता है।

नाटकों की रचना संस्कृत में वृहत् रूप से हुई है। परन्तु नाटकों की उपादेयता प्राकृत के बिना अधूरी है। संस्कृत के प्रत्येक नाटक में प्राकृत का प्रचुर मात्रा में प्रयोग देखने को मिलता है। जो विशुद्ध प्राकृत की रचना होती है उसे सट्टक कहते हैं।

संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार – राजा, राजपत्नी, उच्चवर्ग के पुरुष और महिलायें, भिक्षुणी, मंत्री, मन्त्रियों की पुत्रियाँ एवं कलाकार महिलायें संस्कृत में भाषण करती है तो श्रमण, तपस्वी, विदूषक, उन्मत्त, बाल, निम्नवर्ग की स्त्री-पुरुष, अनार्य, अप्सरायें, एवं स्त्रीपात्र प्राकृत में। इसी कारण संस्कृत नाटकों का आधा भाग संस्कृत में रहता है और आधा भाग प्राकृत में रहता है।

- कहीं-कहीं रानी का वार्तालाप भी प्राकृत में रहता है। स्त्रियों को संबोधित करने के लिये सूत्रधार भी प्राकृत का व्यवहार करने लगता है।
- १२वीं शती तक लिखे गये नाटकों में जनसाधारण के लिये प्राकृत का व्यवहार स्वाभाविक ही था।
- प्राकृत का सर्वप्रथम नाटकीय प्रयोग अश्वघोष (ई. १०० के आस-पास) की कृतियों में पाया जाता है। इनमें मागधी, अर्धमागधी और शौरसेनी है।
- इसके अनन्तर भास के नाटक है। लगभग ई. २०० में इनकी रचना हुई। जिनकी संख्या १३ है। उन नाटकों अधिकांश भाग प्राकृत का है। भास ने शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया है।
- मृच्छकटिकम्, स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिमा नाटक आदि प्राकृत बाहुल्य रचनायें है।
- कालिदास के मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञानशाकुन्तलम् ये तीन नाटक प्रसिद्ध है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यंत और शाकुन्तला की प्रणय-कथा निरूपित है। इसमें मछुए, पुलिस-कर्मचारी और सर्वदमन मागधी का, महिलायें और शिशु महराष्ट्री का एवं ज्योतिषी, नपुंसक-कांचुकी और विक्षिप्त शौरसेनी का प्रयोग करते हैं। मालविकाग्निमित्रम् में राजमहिषी की परिचारिका मालविका और राजा अग्निमित्र की प्रणयकथा है। इसमें अधिकांश पात्र महिलायें है। इसलिये उनकी भाषा प्राकृत है। विक्रमोर्वशीयम् तो एक प्रकार से प्राकृत नाटक है। इसमें राजा पुरुरवा और अप्सरा उर्वशी की प्रेमकथा है। मेनका, रंभा, सहजन्या, चित्रलेखा, उर्वशी आदि अप्सरायें, विदूषक, राजमहिषी, चेटी, किराती, यवनी औश्र तापसी आदि पात्र प्राकृत बोलते हैं। इस प्रकार से कालिदास के नाटकों में प्राकृत का बाहुलता है।
- शूद्रक के मृच्छकटिकम् प्राकृतभाषा की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें दस प्रकरण है। इसमें नाटककार ने प्रेम के कथानक को राजनीतिक घटनाओं के साथ संबद्ध किया है। यह एकमात्र चरित्र-चित्रण प्रधान नाटक है। इसमें सूत्रधार, नटी, नायिका आदि ११ पात्र शौरसेनी, विदूषक प्राच्या शौरसेनी, वीरक आवन्ती, चन्दनक दाणिणात्य महाराष्ट्री, चाण्डाल चाण्डाली, जुआरी ढक्की, शकार, स्थावरक और कुम्भोलक मागधी में बातचीत करते हैं।
- श्रीहर्ष के प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द में प्राकृत का प्रचुर प्रयोग है।
- विशाखादत्त के मुद्राराक्षस में अनेक दृश्य प्राकृत के है।
- भट्टनारायण के वेणीसंहार में शौरसेनी की ही प्रधानता है।

- सोमदेव के ललितविग्रहराज में महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी का व्यवहार है।

महादेव के अद्भुतदर्पण में सीता, सरमा और त्रिजटाआदि स्त्रीपात्र और विदूषक एवं महोदर आदि प्राकृत में बोलते हैं।

वर्तमान में प्राकृत भाषा का महत्व – वर्तमान में प्राकृत भाषा का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व है। प्राकृत भाषा भारत देश की प्रथम बोले जाने वाली भाषा है। जिसका प्रयोग जन-जन में सहजता के साथ के किया जाता है और जिसके पुट आज भी सभी भाषाओं में विद्यमान हैं। पश्चात् प्राकृत भाषा में धार्मिक एवं लोक साहित्य की भी रचना हुई। जिनका प्रभाव भारतीय संस्कृति पर दिग्दर्शित होता है।

1. **साहित्यिक महत्वः** प्राकृत भाषाओं में अनेक महत्त्वपूर्ण धार्मिक और साहित्यिक ग्रंथ लिखे गए हैं। जैन साहित्य में षट्खण्डागम, कषायपाहुड, समयसार, आचारांग सूत्र आदि, बौद्ध साहित्य में सुत्तनिपात आदि, संस्कृत साहित्य के प्रायः सभी ग्रन्थों में प्राकृत भाषा को लोक भाषा एव सुन्दर-सुन्दर उदाहरण प्रस्तुतों करने के लिए प्रयोग किया गया है। सट्टक की अवधारणा केवल प्राकृत भाषा में है।

2. **भाषा विकास में योगदानः** प्राकृत भाषाएँ आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास का आधार रही हैं। प्राकृत से अपभ्रंश, अवहट्ट, हिंदी, मराठी, बंगला, असमिया, उड़िया, गुजराती जैसी भाषाओं के विकास में प्राकृत भाषा का योगदान महत्वपूर्ण है।

3. **शैक्षणिक महत्वः** विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में प्राकृत भाषाओं का अध्ययन किया जा रहा है। भारतीय प्राचीन ग्रंथों और धर्मशास्त्रों को समझने के लिए प्राकृत भाषा का ज्ञान जरूरी है। इसलिए आज भारत सरकार द्वारा शास्त्रीय भाषा के रूप में प्राकृत को सम्मिलित किया गया है।

4. **संस्कृति और धरोहर संरक्षणः** प्राकृत भाषाएँ भारतीय संस्कृति और वैभव को समझने का एक महत्वपूर्ण साधन हैं। पुरातात्विक महत्व की सामग्री, जैसे शिलालेख, प्राचीन सिक्के और साहित्यिक रचनाएँ प्राकृत में मिलती हैं, जो भारत के ऐतिहासिक और सामाजिक विकास को समझने में सहायता करती हैं।

6. **लोकभाषा के रूप मेंः** प्राचीन भारत में प्राकृत को जनसाधारण की भाषा माना जाता था, जबकि संस्कृत विद्वानों और शासकों की भाषा थी। प्राकृत का उपयोग नाटक और काव्य में भी होता था, जैसे कि कालिदास के नाटकों में विभिन्न पात्रों द्वारा अलग-अलग प्राकृत भाषाओं का उपयोग दिखाया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह जन सामान्य की भाषा थी और विभिन्न क्षेत्रों में इसके अलग-अलग रूप प्राप्त थे।

7. **भाषाई विविधता और क्षेत्रीय भाषाओं पर प्रभाव:** प्राकृत भाषा में विविधता में एकता का परिचय है। शौरसेनी, महराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची आदि में ध्वनि का भेद हैं, कुछ परिवर्तन क्षेत्र और वातवारण के अनुसार हुए हैं परंतु सभी हैं प्राकृत ही। इनका प्रभाव आज की आधुनिक भारतीय भाषाओं जैसे मराठी, गुजराती, हिंदी, और बंगाली पर पड़ा। क्षेत्रीय भाषाओं की संरचना, व्याकरण और शब्दावली में प्राकृत का योगदान स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

8. **पुरातात्विक महत्व:** प्राकृत भाषा में लिखित शिलालेख, सिक्के और अभिलेख पुरातात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, अशोक के शिलालेख प्राकृत में हैं, जिससे उस समय के प्रशासनिक और सामाजिक जीवन की जानकारी मिलती है। इससे यह समझने में मदद मिलती है कि प्राकृत भाषा का उपयोग प्राचीन भारत में शासकीय और धार्मिक संदेशों को आम जनता तक पहुँचाने के लिए किया जाता था।

9. **नाट्यकला और रंगमंच में उपयोग:** प्राचीन भारतीय नाटकों में प्राकृत भाषा का विशेष स्थान था। संस्कृत नाटकों में उच्च वर्ग के पात्र संस्कृत बोलते थे, जबकि सामान्य या निम्न वर्ग के पात्र प्राकृत बोलते थे। यह दर्शाता है कि प्राकृत भाषा किस प्रकार से सामाजिक वर्गों में विभाजित थी और इसे जनमानस की भाषा माना जाता था।

10. **शोध और पुनरुद्धार:** आज भी प्राकृत भाषाओं पर शोध जारी है। कई भाषाशास्त्री और पुरातत्वविद् प्राकृत के महत्त्व को समझने और इसके साहित्य को पुनर्जीवित करने के प्रयास में लगे हुए हैं। विश्वविद्यालयों और अनुसंधान केंद्रों में प्राकृत के अध्ययन को लेकर रुचि बढ़ रही है।

इन सभी कारणों से, प्राकृत भाषा का महत्त्व आधुनिक काल में भी बना हुआ है और इसे भारतीय इतिहास, संस्कृति, धर्म, और भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए आवश्यक है।

---

[1] सिद्धहैमशब्दानुशासन ८/१/१- अथ प्राकृतम्।
[2] प्राकृतसर्वस्य-मार्कण्डेय
[3] दशरूपक के टीकाकार धनिक २/६०
[4] कर्पूरमंजरी के टीकाकार - वासुदेव
[5] षड्भाषाचन्द्रिका के रचयिता -लक्ष्मीधर
[6] वाग्भट्टालंकार के टीकाकार - सिंहदेवगणी
[7] शकुन्तला के टीकाकार - शंकर
[8] टीका नमिसाधु कृत
[9] प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास/पृष्ठ 14, प्राकृत साहित्य का इतिहास/पृष्ठ 9
[10] आठवीं शताब्दी के विद्वान् वाक्पतिराज गउडवहो
[11] नवमीं शताब्दी के विद्वान् कवि राजशेखर बालरामयण
[12] डॉ. पिशल द्वारा

[13] हिंदी भाषा का उद्भव और विकास – उदय नारायण तिवारी
[14] प्राकृत रचना सौरभ पृष्ठ VII
[15] प्राकृत व्याकरण/आचार्यश्री हेमचन्द कृत/सूत्र-1 की व्याख्या
[16] गउडवहो/९२
[17] काव्यादर्श(१/३४)
[18] सेतुबंध१/६३
[19] सेतुबंध3/९
[20] सेतुबंध१०/७०
[21] सेतुबंध 3/30
[22] नाट्यशास्त्र/१/१७
[23] नाट्यशास्त्र ४/3/११०
[24] व्य.वि.अ.१ पृ.२०
[25] दशरूपक प्रथम प्रकाश /७/९
[26] नाट्यदर्पण/पृ.१९०-१९२
[27] कर्पूरमंजरी१/६
[28] चंदलेहा/१/५
[29] कर्पूरमंजरी १/६
[30] कर्पूरमंजरी 3/१०
[31] कर्पूरमंजरी २/30
[32] कर्पूरमंजरी १/६
[33] चंदलेहा १/१६
[34] चंदलेहा २/3
[35] चंदलेहा 3/२१
[36] चंदलेहा/१/५
[37] रंभामंजरी १/४०
[38] रंभामंजरी १/४१
[39] रंभामंजरी १/५६
[40] आनंदमंजरी १/२९
[41] आनंदमंजरी १/२6
[42] आनंदमंजरी 2/13